# सिद्धयोग

संस्थापक संरक्षक एवं
संपादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष १५
अंक १
अप्रैल १९८२

श्री सिद्ध गुफा
प्रकाशन
[illegible]वाई आगरा

## इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई


卐

- तुभ्यं नमस्ते — १
- चरित्र-निर्माण का आधार ब्रह्मचर्य आश्रम
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज — २
- रहना नहिं देश विराना है
  डॉ० श्री दयाशंकर शर्मा — १५
- जन्म कर्म च मे दिव्यम्
  श्री केशव उपाध्याय — १७
- योगाभ्यासी का कच्चा आहार
  श्री रामसजीवनसिंह — २३
- मन्द मधुर मुस्कान के ध्यान का फल
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा — ३०
- हल्दी की गाँठ
  डा० श्री विजयसिंह — ४१
- साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर
  श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा — ४३
- योगिनी मदालसा
  श्रीमती सरिता भारद्वाज — ५५
- अमृत-कला
  ब्र० श्री पार्श्वनाथ जी — ६०
- योग-चिकित्सा
  श्री गिरीशदेव वर्मा — ६३
- योग-निद्रा की साधना
  पण्डित श्री विजयानन्द जी — ७३
- उपासना
  ब्रह्मचारी श्री सूरजप्रकाश शर्मा — ७७
- निद्रानुभूतियाँ
  श्री महेन्द्रनारायणसिंह — ८२
- मामेकं शरणं व्रज
  श्री मनमोहनकृष्ण त्रिखा — ८७
- योगासनों की परम उपादेयता
  श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा — ९३

卐


संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य १८ रु० इस अंक का ३ रु०

सन् १९३४ ई० में अमृतसर में लिया गया समूह चित्र

आनन्द कन्द श्री प्रभु जी बीच में श्वेत परिधान में कुर्सी पर विराजमान हैं दायें बायें उनके प्रिय शिष्य उपस्थित हैं ।

# सिद्ध योग

वर्ष १५
अङ्क १

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योमु[illegible] विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्यर्थान् [illegible] बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु [illegible] महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

अप्रैल
१९८२

## 卐 तुभ्यं नमस्ते 卐

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ।

अर्थात्

प्रभो ! आप सर्वस्वरूप होने पर भी उनके साथ लिप्त नहीं हैं। आपकी दृष्टि निर्लिप्त है, कारण कि आप समस्त वृत्तियों के साक्षी हैं। गुणों के प्रवाह से होने वाली यह सृष्टि अज्ञानमूलक है। वह देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सारी योनियों में व्याप्त है, परन्तु आप उससे सर्वथा अलग हैं। इसलिए हे गुणातीत प्रभु मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

—वेद

हमारा विशेष लेख—

# चरित्र-निर्माण का आधार-

## ❈ ब्रह्मचर्य आश्रम ❈

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे पूर्वजों ने मनुष्य मात्र के हितार्थ चतुर्विधि आश्रमों की स्थापना की। उनमें से पहला आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम बतलाये गये हैं। इन सभी आश्रमों के नियम अलग-अलग प्रकार के हैं। हमारे विचार में जो मनुष्य आश्रम-धर्मों का विधि-विधानपूर्वक पालन करता है वह अवश्य ही पूर्ण योगयुक्त हो जाया करता है। कभी-कभी एकान्त में बैठ करके जब हम चिन्तन करते हैं तो अपने पूर्वजों की दूरदर्शिता पर मन में बहुत ही आह्लाद होने लगता है। हमारे इन महापुरुषों ने अपनी सन्तान के भले के लिए कितने ऊँचे साधन लिखकर रख दिये हैं। जिस समय संसार के अन्दर कोई बच्चा जन्म लेता है तो वह अपने मन के अन्दर सभी प्रकार की शक्तियों का समूह लेकर आया करता है। यह दूसरी बात है कि इस संसार में जन्म लेने पर उसको अपने विकास के लिए उपयुक्त साधन मिलें या न मिलें। यदि हमारी शास्त्रीय पद्धति के अनुसार जन्म लेने वाले बालक को उत्कृष्टता की ओर ले जाने की भावना उसके माता-पिता के मन में पूर्णरूपेण बन जाती है तो बालक का जीवन गर्भावस्था से ही बनना प्रारम्भ हो जाता है। सबसे पहली आ[illegible]श्यकता यह है कि बालक के गर्भ में प्राप्त हो[illegible] के बाद उसकी माता को यज्ञ का शेषान्न खिल[illegible] जाये जिससे बालक के मन में पवित्रता का वास होता चला जाय। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है। 'य[illegible]था अन्नं तथा मनः।' अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है वैसा ही उसका मन बन जाया करता है। बालक के निर्माण की आधार भित्ति सबसे प्रथम जन्म देने वाली उसकी माँ ही है। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है—

**मातृवान् पितृवानाचार्यवान् पुरुषो वेद।**

अर्थात् माता वाला, पिता वाला और गुरु वाला परमात्मा तक पहुँच सकता है। अतः बालक के निर्माण की आधार भित्ति सबसे पहले माता है और बालक के गर्भ में प्राप्त हो जाने के बाद सबसे पहले माता के मन को ही उत्कृष्ट बनाना नितान्त जरूरी हो जाता है। उसके मन में उत्तमोत्तम संस्कार

बनाये रखना चाहिये। यदि हम यह चाहते हैं कि हमारा बच्चा ब्रह्मज्ञानी बने तो जिस समय उस बच्चे का गर्भवास-काल हो तब ही उसकी माता के मन के अन्दर ब्राह्मी धारणा वाले उत्तमोत्तम साधन जुटाने चाहिये। जैसे माता को योगियों के इतिहास सुनाना, योग सिद्धान्तों का मनमें विकास करना, उपनिषदों की कथा सुनाना, इसके अतिरिक्त पुण्य स्थानों में ले जाना, ब्राह्मी बूटी एवं तुलसीपत्र आदि का बार-बार सेवन कराना, यज्ञ आदि के शुभ दृश्य दिखलाना तथा नित्य प्रति यज्ञके शेषान्न का खिलाना एवं पुष्टिकर पाक जिसमें ब्राह्मी बूटी एवं बादाम आदि का मिश्रण हो। इन दिव्य औषधियों के मिश्रण से युक्त पाक को नियम से नित्य सेवन कराना चाहिए जिसमें इस प्रकार की औषधियों का सम्मिश्रण भी किया गया हो कि जिनसे उसका परिपाक भी जल्दी हो जाये। साथ ही वह बिल्कुल सात्त्विक भी हो। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में सात्त्विक आहार का लक्षण निम्न प्रकार से लिखा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

अर्थात् जो आहार आयु की वृद्धि करने वाले हैं, सतोगुण के बढ़ाने वाले हैं, सुख और प्रेम की उत्पत्ति के कारण हैं, हृदय पुष्टि करने वाले, रस के दाता और चिकने हैं ये सब आहार सात्त्विक कहलाते हैं। शिशु के गर्भवास काल में माताओं को अवश्य ही शुद्ध सात्त्विक एवं पवित्र आहार ही करना चाहिए। क्योंकि माता के मन के साथ ही बालक के मन का भी निर्माण होता है। गर्भाधान काल में यदि पिता का मन उज्ज्वल है और वह योग ध्यान-परायण है और पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए मन सांसारिक लिप्सा से शून्य है, और अपने बालक को उत्तम बनाने के लिये यज्ञ, व्रत और तप आदि किए हुये हैं तब उसका बालक भी ओज तेज को धारण करने वाला अवश्य ही होगा। इसके साथ-साथ माता को इस लेख में ऊपर लिखी बातों का पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए। गर्भाधान के बाद यदि माता का मन पूर्णरूपेण उज्ज्वल है तो बालक का मन भी उज्ज्वल एवं तेजस्वी बनेगा। आजकल के समय में गर्भवती स्त्री के मनोरञ्जन के लिए उनको खूब रसिकता के दृश्य दिखलाये जाते हैं सिनेमा आदि को दिखा - दिखा कर माताओं के मनों में खूब रसिकता भर दी जाती है जिसके फलस्वरूप भावी जन्म धारण करने वाले शिशुमें रसिकता के भावों का आ जाना बिल्कुल स्वाभाविक हो जाता है। इसलिए हमारी सबसे पहली शास्त्रीय शिक्षा है कि— 'मातृवान् पुरुषो वेद।' माँ अपने बच्चे के अन्दर जिस प्रकार के संस्कारों

को भर देगी उसके मन में वे ही संस्कार पुष्टि पाते रहेंगे। क्योंकि उस समय बच्चे का मन माता के मन के अन्दर मिला रहता है। यदि माँ-बाप चाहें तो अपने बालक को गर्भकाल में ही पूर्ण विद्वान, ओज-तेजयुक्त ब्रह्मचारी एवं सर्व गुण सम्पन्न बना सकते हैं। इस विषय में हमारे भारतीय इतिहास के अन्दर कितने ही उज्ज्वल प्रमाण मिलते हैं। महाभारत में कथानक मिलता है कि जिस समय अभिमन्यु अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में था उस समय अर्जुन ने अपनी पत्नी सुभद्रा को विविध प्रकार की सद्शिक्षायें दीं और दिखायीं। चक्रव्यूह की रचना और उसके भेदन के उपाय बतलाये। चक्रव्यूह में प्रवेश करने का उपाय बतलाया किन्तु चक्र व्यूह के भेदन के बाद जिस समय उसमें से निकलने के उपायों का अर्जुन वर्णन कर रहे थे उस समय सुभद्रा को नींद आ गई और वह उस विषय को भली प्रकार नहीं समझ सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि महाभारत की लड़ाई में चक्रव्यूह का भेदन तो केवल अर्जुन ही कर सकते थे दूसरा कोई वीर पाण्डव सेना के अन्दर चक्रव्यूह का भेदन करने वाला नहीं था। जब कोई भी वीर चक्रव्यूह भेदन के लिए तैयार नहीं हुआ और अर्जुन कौरवों के ललकारने पर दूसरी ओर लड़ाई के लिए चले गये थे उस समय अपने पिताकी अनुपस्थिति में अभिमन्युने चक्र व्यूह-भेदन का उपक्रम किया पर साथही उसने यह भी कह दिया कि-मैं चक्रव्यूह को तोड़ तो अवश्य दूँगा किन्तु उसमें से निकलने की विधि मुझे याद नहीं है। परिणाम भी ऐसा ही हुआ। जिस समय अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन के लिये लड़ाई में प्रवेश किया उस समय व्यूह की भेदन क्रिया को देख करके और अभिमन्यु के अपूर्व उत्साह को देख करके द्रोणाचार्य के मुख से यह शब्द निकल ही गये—

**एषो गच्छति सौभद्रः**
**पार्थानां प्रथितो युवा।**
**नन्दयन सुहृदः सर्वान्**
**राजानञ्च युधिष्ठिरम्॥**

अर्थात् यह देखो यह अतुलित वीर परम योद्धा सुभद्रा पुत्र सौभद्र कितनी वीरता के साथ चला जा रहा है। इसकी वीरता को देख करके इसके मित्र कितने प्रसन्न हो रहे हैं और महाराजा युधिष्ठिर की मानस प्रसन्नता को यह कितना अधिक बढ़ा रहा है। आचार्य द्रोण को अभिमन्यु की वीरता एवं चक्र-भेदन क्रिया पर बड़ा ही आश्चर्य था कि यह इतनी ऊँची शिक्षा कहाँ से प्राप्तकर सका। किन्तु उनको इस बात का ज्ञान नहीं था कि अभिमन्यु की यह पढ़ाई माता के पेट में ही पढ़ा दी गई थी। अभिमन्यु ने अपने पिता अर्जुन के द्वारा जितनी शिक्षा माता के उदर में निवास करते हुए प्राप्त कर ली थी उस ही शिक्षा के आधार पर उसने

चक्रव्यूह का भेदन तो कर दिया किन्तु उसमें से वह वापिस नहीं निकल पाया। यह था गर्भ की शिक्षा का प्रभाव। इसलिये यह बहुत ही आवश्यक है कि शिशु के चरित्र निर्माण के लिए उसकी माता का पहले से ही चरित्र-निर्माण उत्तम विधियों से कराया गया हो और उसको उत्तमोत्तम बुद्धिवर्धक रस पाक आदि खिलाये गये हों। तपस्वी ब्रह्मचारियों के इतिहास सुनाये गये हों। उसके सामने नित्य वेद-पाठ एवं यज्ञादि कर्म-संस्कार कराये गये हों और षोड्ष संस्कारों के अन्दर गर्भाधान संस्कार एवं पुंसवन आदि संस्कार भी विधिपूर्वक कराये गये हों। उसके बाद जिस भी बालक का जन्म होगा वह अत्यन्त उज्ज्वल और ऊँचे संस्कारों को लेकर संसार में आयेगा। ख्याल रखना चाहिए कि किसी भी बालक के गर्भ-वास काल में गर्भणी माताओं के सामने किसी भी प्रकार के भयानक व मन को घृणित कर देने वाले प्रश्न उनके सामने नहीं लाने चाहिए। प्रत्युत उज्ज्वल ही संस्कार उनके मनों में भरना चाहिए और उस बालक के पैदा हो जाने के बाद माता अपने बच्चे को जिस प्रकार की बातें सुनायेगी व शिक्षा देगी उसी प्रकार बच्चे का मन भी बनता चला जायेगा। इस विषय में मदालसा का इतिहास प्रख्यात ही है। उसने अपने बच्चे को शिक्षा दी थी कि

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि, निरंजनोऽसि
संसार माया परिवर्जितोसि।

इस शिक्षा का परिणाम यह निकला कि मदालसा ने अपने बालक को परम विरक्त एवं तेजस्वी बना दिया। इसलिए हमारे आचार्यों ने सर्व प्रथम मातृवान् वाक्य का उल्लेख किया है। माता की शिक्षा के बाद बालक ज्योंही कुछ बढ़ने लगता है उस समय पिता की शिक्षा की भी बड़ी आवश्यकता रहती है। पिता अपने बच्चे को कुसंग से बचाकर सत्संग की शिक्षा देता है और दिलाता है तथा सभी प्रकार के कुत्सित वर्ग से बचाकर रखता है। उसके मन को वासना के गर्त से बचाकर रखता है तो समझ लेना चाहिए कि उस बाप ने अपने बच्चे को पूर्णयोगी बना दिया है। आजकल का समय हमारे प्राचीन ऋषि सिद्धान्तों के बिलकुल ही विपरीत चल रहा है। चाय की बीमारी तो इतनी ज्यादा चल गई है कि माता-पिता अपने दुधमुँहे बच्चे को भी प्रारंभ से ही चाय पिलाना सिखला देते हैं एवं राजस, तामस आहार उनको खिलाना आरम्भ कर देते हैं। रजोगुण और तमोगुण के आहारों का वर्णन भी भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नांकित प्रकार से कर दिया है—

कट्वम्ललवणात्युष्ण-
तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा
दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति
पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं
भोजनं तामसप्रियम् ॥

अर्थात् कडुए, खट्टे, अधिक नमकीन, बहुत गर्म और मिर्च आदि तीखे और रूखे मसाले हृदय में जलन पैदा करने वाले चटपटे पदार्थ यह सभी इस प्रकार के भोजन रजोगुण प्रधान व्यक्तियों को प्यारे लगते हैं और इनके खाने से रजोगुण की ही वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त सड़े गले, पुराने बासी भोजन और उच्छिष्ट आहार एवं अमेध्य अर्थात् जो बुद्धि की हीनता करने वाले हैं ऐसे भोजन तामस लोगों को प्यारे होते हैं। और ऐसे भोजनों के खाने से मन में तमोगुण की ही वृद्धि भी होती है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपने आहार को शुद्ध एवं सात्विक रखे। क्योंकि— "आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः" और "सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति" अर्थात् आहार के शुद्ध हो जाने के बाद अपने आप ही अन्तःकरण शुद्ध होता चला जाता है और अन्तःकरण शुद्ध हो जाने के बाद स्मृत्युत्थान हो जाता है। और स्मृत्युत्थान के बाद बिना ही किसी प्रयास के समाधि सिद्ध होने लगती है। इसलिए योगी के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह अपने आहार-विहार को बिल्कुल शुद्ध रखे। तभी वह समाधि द्वार तक पहुँच सकता है। अतः माता पिता अपने बच्चों के लिये इस प्रकार के राजस, तामस आहारों से बचा करके सत्व-शुद्धि के लिए सात्विक आहार करायें यह अत्यावश्यक है। इसके बाद तीसरी श्रेणी रह जाती है—

आचार्यवान् पुरुषो वेद ।

अर्थात् गुरु वाला परमात्मा को पा जाता है। गुरु शब्द की व्याख्या योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने बहुत ऊँचे शब्दों में की है—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

अर्थात् काल के अधिकार से परे होने के कारण वह परमात्मा पहले गुरु कपिलादिकों का भी गुरु है। क्योंकि—

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपिप्रत्येतव्यः ।

अर्थात् पहले कपिलादिक जो गुरु हैं वे सब के सब काल की अवधि वाले थे किन्तु वह ईश्वर जो काल की अवधि से परे है एवं प्रकर्षगति से अनन्त काल से ही सिद्ध है वह परम गुरु कहलाता है। सही रूप से विचार करके देखा जाये तो गुरु शब्द का यथार्थ अर्थ तो यही है कि जो सत्ता काल के अधिकार से परे की सत्ता है वही सद्गुरु सत्ता है। जिन योगियों ने अपनी तीव्रतम उत्कृष्ट साधना प्रारम्भ करके अपने आपको ब्रह्म विलीन कर लिया है वे लोग गुरु पद वाच्य हैं। उनके

द्वारा दी हुई शिक्षा साधक को परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाली होती है, किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले ब्रह्मचारियों को यह एक आवश्यक आदेश है कि—

**सः गुरुमेवापि गच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।**

अर्थात् उपनीत ब्रह्मचारी ऐसे गुरु की शरण ग्रहण करे जो पूर्ण विद्वान वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता एवं ब्रह्मनिष्ठ हो और इसके अतिरिक्त यदि उनने पूर्णतया योगाभ्यास करके ब्रह्मैश्वर्य पूर्णता प्राप्त कर ली है तो बहुत ही उत्तम बात है। यह बात सोने पर सुहागे वाली बात है। ऐसे गुरु की शरण में जाने वाला एक अबोध बालक जिसको माता पिता के पूर्ण सहयोग से वासना का ज्ञान तक नहीं हो पाया है ऐसा वह बालक गुरुकुल वास का यथार्थ अधिकारी है। गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए साङ्गोपाङ्ग वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन कर अपने आपको उत्कृष्ट उच्चकोटि के विद्वान बना लेंगे और उसके साथ-साथ अपने नियमानुसार नैत्यिक व्यायाम करते हुए अपने शारीरिक स्वास्थ्य को बहुत ही उत्कृष्टता की ओर ले जायेंगे। इसमें भी यदि उनको प्राणायाम आदि की यथार्थ शिक्षा मिलती है तो प्रकाशावरणक्षय को प्राप्त हो जायेंगे। क्योंकि योगदर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणं" कहकर प्राणायाम का यह फल बतलाया है कि जो योगी बराबर ब्रह्मचर्यपूर्वक नियम से प्राणायाम आदि का अभ्यास करते हैं अर्थात् योगी के रास्ते में जो अज्ञान अन्धकार है वह प्राणायाम के अभ्यास से दिन-दिन क्षीण होता चला जाता है और योगी पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त कर लेता है। तथा उस योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा के तप के बल से पूर्णरूपेण यथार्थता का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् उस योगी के अन्दर सर्वज्ञातित्व शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है क्योंकि यह शास्त्रीय नियम है कि—

**दह्यन्ते ध्मायमानानां**
**धातूनां हि यथा मलाः।**
**तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते**
**दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥**

अर्थात् जिस प्रकार सोने, चांदी आदि धातुओं को तपाने से वह निर्मल और शुद्ध हो जाया करती हैं, इसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं। इसी बात की पुष्टि भगवान पतञ्जलिदेव योगदर्शन में इस प्रकार करते हैं—

**प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।**

अर्थात् प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास करने से अनवरत अशुद्धि का नाश हो जाता है और जब तक वह योगी पूर्णरूपेण विवेक ज्ञान को

प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता रहता है। जब तक वह योगी विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा को नहीं पा जाता तब तक उसके ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती ही रहती है। और समय आता है ऐसा ब्रह्मचारी जिसने ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ऊर्ध्वरेतस्तता को प्राप्त कर लिया है वह इसी ब्रह्मचर्य आश्रम में उच्चकोटि का पूर्ण विद्वान एवं सर्व सामर्थ्यवान् योगी बन जाता है। ब्रह्मचारियों के गुरुकुल आवास काल में उनके संरक्षक इतने आदर्श एवं चरित्रवान् व्यक्ति होने चाहिए जो अपने ब्रह्मचारियों के पास वासना की गन्ध भी न आने दें। क्योंकि हमारा शास्त्रीय नियम है कि—

आचार्य हीनं न पुनन्ति वेदाः ।

आचार्यहीन व्यक्ति को वेद ज्ञान भी पवित्र नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्यमात्र का आचार्यवान् होना बहुत ही जरूरी है हमारा शास्त्रीय आदेश है कि—

**आचारः परमो धर्मः**
**श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।**
**तस्मादस्मिन्सदा युक्तो**
**नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ।**
**आचाराद्विच्युतो विप्रो**
**न वेदफलमश्नुते ।**
**आचारेण तु संयुक्तः**
**सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥**

अर्थात् मनुष्य के पालनीय धर्मों के अन्दर वेद-शास्त्रों का बताया हुआ सबसे प्रथम आचार ही परम धर्म है। आचार का पालन करने वाला व्यक्ति आत्मवान् हो जाता है। आचार से गिरा हुआ ब्राह्मण वेद-ज्ञान के फल को नहीं पा सकता, और आचारवान् व्यक्ति सम्पूर्ण उत्तम फलों को प्राप्त कर लेता है। इसलिए आजकल के जमाने में आचारहीन व्यक्ति चाहे भले ही बी० ए०, एम० ए० एवं शास्त्रीय आचार्य की डिग्री उपलब्ध कर ले किन्तु येन केन प्रकारेण डिग्रियां प्राप्त करने वाले वे व्यक्ति कुछ भी नहीं होते, न ही उनके अन्दर किसी भी प्रकार का बौद्धिक विकास हो पाता है। मनुस्मृति में ब्रह्मचारियों के लिए कुछ वर्जनीय बातें लिखी हैं जिनका हम निम्नांकित दो तीन श्लोकों में संकेत कर देते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले ब्रह्मचारियों को इनका अवश्य ही पालन करना चाहिये—

**वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं**
**माल्यं रसान् स्त्रियः ।**
**शुक्तानि यानि सर्वाणि**
**प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥**
**अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरु-**
**पानच्छत्रधारणम् ।**
**कामं क्रोधं च लोभं**
**च नर्तनं गीतवादनम् ॥**

द्यूतं च जनवादं च
परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भ-
मुपघातं परस्य च ॥
एकः शयीत सर्वत्र च
रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो
हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत के धारण करने वाले व्यक्तियों को इन निम्नलिखित सभी वस्तुओं का परित्याग रखना चाहिए। जैसे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस गन्ध, माला, रस स्त्री और पुरुष का सङ्ग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा, अङ्गों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष और नाच गाना बजाना। द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्या-भाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें। सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्यस्खलित कभी न करे, जो कामना से वीर्य-स्खलित कर दे तो जानो कि उसने अपने ब्रह्मचर्य-व्रत का नाश कर दिया। आदि-आदि नियमों का पालन अवश्य ही करना चाहिए। वैसे गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारियों पर वहां के आदर्श संरक्षकों का संरक्षण इन सब बातों को होने ही नहीं देगा। हमने इस प्रकार के आदर्श ब्रह्मचर्य-व्रत करने वाले ऐसे ब्रह्मचारियों को देखा है जिनका पोषण आदर्श संरक्षकों के अधीन रहता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि मधुमांस, तैलाभ्यंग, रस, स्त्रियाँ, गन्ध-माल्य आदि का सेवन करना तो दूर रहा उनको वस्त्र भी कटि-वस्त्र के रूप में टाट व खादी आदि के पहनाये जाते थे। एक बार एक गांव में हमें एक महात्मा मिले। जिनके साथ में चार ब्रह्मचारी थे। उनके मुख-मण्डल देदीप्यमान थे। वे लोग प्राणायामी और पूर्ण अभ्यासी मोटे, वस्त्र खादी के कटि पर धारण किये थे। संस्कृत बोलने का इतना ऊँचा अभ्यास था कई एक ऊँचे-ऊँचे विद्वान भी व्याकरण के आचार्य उनके सामने संस्कृत में बातचीत नहीं कर सकते। हमने उनके संरक्षक महात्मा से बातचीत की और पूछा कि इनका खान-पान क्या है। सोना, उठना-बैठना कैसा है। दिनचर्या और रात्रिचर्या कैसी है। उनके संरक्षक महात्मा ने उत्तर दिया कि महाराज हमारा आश्रम जंगल में है। ये लोग साग-पात एवं गेहूँ का दलिया आदि मोटा अन्न सेवन करते हैं और गौओं के दूध को पिया करते हैं। हमारे यहां गौ-शाला है। वहां हम अच्छी-अच्छी गौयें रखते हैं। उसीसे इन लोगों की पुष्टि होती रहती है और इनके ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन पूरे-पूरे संरक्षण में कराया जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम सभी आश्रमों की आधार

भित्ति है। प्रथम एक युवक पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करता है तो उसके शरीर में वीर्य परिपूर्ण रूप से व्यापक हो जाया करता है और नैत्यिक योगासनों का व्यायाम करने से उसका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ—

**ब्रह्माणि चरतुं शीलमस्यास्तीत ब्रह्मचारी।**

अर्थात् ब्रह्म के अन्दर विचरने वाली जिसकी आदत पड़ गई है वह ब्रह्मचारी कहलाता है और शास्त्रों में वीर्य को भी ब्रह्म माना है। भगवान शिव ने शिव-संहिता में—

**अहं बिंदु रजः शक्तिः।**

अपने आपको बिन्दु स्वीकार किया है और रज को शक्ति माना है, इसके अतिरिक्त और भी स्थान-स्थान पर वीर्य को ब्रह्म रूप से वर्णन किया है। अतः जब तक ब्रह्म-रूप वीर्य शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा तब तक मनुष्य योगाभ्यास का अधिकारी बनता ही नहीं, उसमें भी वह हठाभ्यास से कोसों दूर रहता है। यदि कोई विलासी व्यक्ति अपने आपको हठयोगी बनाना चाहता है तो उसका वह प्रयास इसी प्रकार का प्रयास है जैसे कोई बालक हाथ से चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है। अतः योगासन करने वाले व्यक्ति के लिये यदि कोई आसनों के उच्चतम् परिणाम को देखना चाहता है तो उसके लिये ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना भी बहुत ही अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य किसको कहते हैं उसके विषय में हमारे आचार्य लिखते हैं—

**कर्मणा मनसा वाचा**
**सर्वावस्था सुसर्वदा।**
**सर्वत्र मैथुन त्यागी**
**ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥**

अर्थात् सब अवस्थाओं में मन, वाणी और कर्म से सर्वथा मैथुन त्याग ही ब्रह्मचर्य है। मूत्राशय और मलाशय के ऊपर मणिपूरक में वीर्य का कोष रहता है। शरीर में व्यापक वीर्य इधर-उधर की कामुक तरंगों से द्रवित होकर वहां इकट्ठा हो जाता है और उस स्थान में इकट्ठा होने पर वीर्य शरीर में पुनः व्यापक नहीं हो पाता और कामोद्रेकों से वह स्खलन की ओर ही जाता है। इस प्रकार के विचारोंसे वीर्य का कोष बार-बार खाली होता रहता है। अतः ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वालों के लिये यह परमावश्यक है कि वह वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिये कोई न कोई व्यायाम अवश्य करते रहें। किन्तु अन्य व्यायामों की अपेक्षा जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं यौगिक व्यायाम ही परमोत्कृष्ट है जिसके करने से शरीर की हर नाड़ी ठीक प्रकार से रसरक्त के वहन करने वाली बनती है। योगासनों के करने से सभी स्नायु सबल हो जाते हैं। छोटी-छोटी शिरायें भी अपने

कार्य को ठीक करती है। यथोचित मात्रा में स्थान-स्थान पर रस-रक्त को पहुँचाती है। अतः योगासनों के द्वारा बहुत जल्दी वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। कुछ आसन तो इस प्रकार के हैं जिनके करने से वीर्य, वीर्य-कोष की ओर न जाकर ऊर्ध्व गमन करता है। ऐसे ब्रह्मचारी कुछ दिन में ही ऊर्ध्वरेतस बन जाते हैं। भगवान् शिव ने शिव-संहिता में स्पष्ट कर दिया है—

**सिद्धे बिंदौ महायत्ने**
**किन्न सिद्धयन्ति भूतले।**
**ऊर्ध्वरेता भवेध स्मात्**
**तावत् काल भयं कुतः॥**

अर्थात् प्रयत्न करके जो लोग बिंदु-जय करते हैं, वह संसार में सभी कार्य कर सकते हैं। जिन्होंने अपने आपको ऊर्ध्वरेतस बना लिया है, उनको कालभय उपस्थित नहीं होता। इसलिए योगासनों के अभ्यासी को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना भी उसका आवश्यकीय कर्त्तव्य है। बहुत जगह पर इस प्रकार की घटनायें देखने में आती हैं, जिन्होंने भोग के साथ योग को चाहा, उन्होंने अनायास अपनी मृत्यु को बुला लिया। ब्रह्मचर्य-रहित विलासी व्यक्ति यदि योगासन का अभ्यास करते हैं तो— "अकर्णात् कर्ण श्रेयः" के नियमानुसार कुछ न कुछ तो ठीक होगा ही किन्तु उत्कृष्ट फल की प्राप्ति उसी हालत में हो सकती है कि वह सावधानी के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करे। ब्रह्मचारी के शरीर में व्यापक हुआ वीर्य उसको अतुल बल देता है। योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने स्पष्ट शब्दों के अन्दर लिख दिया है—

**ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।**

और इसका अर्थ करते हुए व्यास जी महाराज ने और भी ऊँचे शब्दों में ब्रह्मचर्य की प्रशंसा लिखी है—

**यस्य लाभद प्रतिघान**
**गुणानुत्कर्षयति।**
**सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-**
**माधातुसमर्थो भवतीति॥**

अर्थात् ब्रह्मचारी अलौकिक गुणों को धारण करता है एवं सिद्ध हो जाने पर अपने शिष्यों में शक्तिपात करने की ताकत वाला हो जाता है। अतः जो लोग योगासन करते हुए और पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करेंगे उनके शरीर में अलौकिक गुणों का प्रकाश होना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य-व्रत का यह अर्थ नहीं कि जंगलों में घूमने वाले साधु, जटा-जूटधारी, जीवन भर शादी न करें तो वही ब्रह्मचारी कहलाने के अधिकारी हैं। यदि कोई जटा-जूटधारी व्यक्ति ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता है तो गृहस्थियों से बदतर हो सकता है और जो गृहस्थी अपने गृहस्थ

धर्म को निभाता हुआ ऋतु कालानुगामी है और वह केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिये वीर्यधान करता है वह अवश्य ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है। इसलिए यह नहीं समझना कि ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग घरबार त्यागी साधुओं के लिए ही किया गया है। प्रत्युत गृहस्थी भी स्वदारनिरत होकर सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थ उपभोग करते हुए अवश्य ब्रह्मचारी ही है और इस प्रकार के ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का फल उनका शरीर उनको बतलाता ही रहेगा। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए एक विशेष—

## प्राणायाम

प्रथम विधि—योगासन करने वाले साधक त्रिकोण आसन को भली प्रकार जानते है। पहले साधारण रूप से सीधे खड़े हो जायें फिर सहसा अपने प्राणों को नासिका रन्ध्रों से एकदम बाहर निकाल दें और निकाल देने पर नाभि के नीचे के भाग को जहां पर मलमूत्र विसर्जनी नाड़ियाँ रहती है—उस भागको अपने दाहिने हाथ से बांयी ओर से दाहिनी ओर मल करके प्राण को बाहर रोके हुए ही बांयी ओर को घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन की विधि से घुटना झुकाकर आसन कर लें और उसके बाद धीरे-धीरे प्राण को भीतर ले आयें किन्तु भीतर रोकने की आवश्यकता नहीं है, फिर प्राणों को समान गति से चलने दें, इसी प्रकार से फिर दूसरी बार पूरे प्राणकोष को बाहर निकाल कर नाभि के नीचे के भाग में फिर दाहिने हाथ से ऊपर की ओर मलकर प्राण को बाहर रोके हुए दाहिनी ओर का घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन की विधि से आसन करें। जब तक प्राण बाहर रहे तब तक उस आसन को कायम रखें, और ज्योंही घबड़ाहट शुरू हो और प्राण भीतर जाने लगें तो आसन भी छोड़ दें, साथ-साथ यह धारणा करते रहें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ। ऐसा करने से मूत्राशय और मलाशय के ऊपर रहने वाला वीर्य-कोष भी अवश्य ऊपर की ओर आकर्षित हो जायेगा और इस क्रिया को करने वाला व्यक्ति ऊर्ध्व-रेतस हो जायेगा।

## ऊर्ध्व-रेतस प्राणायाम की दूसरी विधि—

सिद्धासन में बैठ जाइये, सिद्धासन करने की विधि यह है—अपने बांये पैर की एड़ी को गुदा द्वार के आगे लिंग नाल के नीचे दृढ़ता से जमाकर रखें और दूसरे पैर की एड़ी को लिंग नाल के ऊपर रखें, यह एड़ियां इस प्रकार रख हुई हों जिनकी ग्रन्थि भाग (टाकनी) बिल्कुल समसूत्र रूप से मिले हुए हों इस प्रकार जमायें। नीचे की एड़ी को थोड़ा दृढ़ करके रखें। जहां यह एड़ी रखी जाती है वहीं से वीर्य वाहिनी नाड़ी जाती है, इसके दबाव से वह नाड़ी दब जाती है और इस नाड़ी के दब जाने से मन के वासनिक आकर्षण कम हो

जाते हैं। इस प्रकार अपने पैरों को जमाकर और दोनों हाथों को घुटनों पर जमाकर समकाय शिरोग्रीव की विधि के अनुसार शरीर को समसूत्रता में रखकर सीधा बैठ जाय। ठोड़ी को थोड़ा सा झुकाकर छाती में लगावे, पेट भीतर की ओर खिंचा हुआ हो इसको सिंहासन कहा है। इस आसन से बैठकर ऊपर बतलाई विधि के अनुसार अपने सारे शरीर के प्राण को एकदम बाहर निकाल दें और उड्डयान बन्ध लगा लें। उड्डयान बन्ध के साथ साथ मूलद्वार का आकर्षण भी ऊपर की ओर स्वाभाविक हो जावेगा। प्राणों को बाहर की ओर रोके रखें। जिस समय प्राण बाहर रुका हुआ हो और उड्डयान बन्ध लगाकर मूलद्वार का ऊर्ध्वाकर्षण किया हुआ हो तो उस समय अपने मन में धारणा करें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ, फिर उसके बाद जब घबराहट हो तो प्राण को अन्दर ले आयें किन्तु अन्दर रोकें नहीं। इस प्रकार के तीन प्राणायाम रोज करने से वीर्य विकारों में बड़ा अनुपम लाभ होता है। और इसके साथ-साथ उपयुक्त खान-पान मिलता हो तो इन्हीं प्राणायामों को २०-२१ तक भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु हर साधक को अधिक मात्रा में प्राणायाम नहीं करना चाहिये केवल मात्र वीर्य-विकार वाले रोगियों को रोग निवृत्ति के लिए दो या तीन प्राणायाम कर लेने चाहिए। ऐसा करने से उनको अवश्य-अवश्य अनुपम लाभ होगा।

इस प्रकार जो साधक ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्ण पालन कर लेता है उनका मन वासना से बिल्कुल शून्य हो जाता है और ब्रह्मचर्य आश्रम में ही सब प्रकार की पूर्णता को वे पा जाया करते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत की पूर्णता के लिए हमारे पूर्वजों ने तीन श्रेणियां निर्धारित की हैं। पहला ब्रह्मचर्यव्रत २५ वर्ष की अवस्था तक, दूसरा ३६ वर्ष तक और तीसरा ४८ वर्ष की अवस्था तक। इस प्रकार आजकल के कुत्सित समय के अन्दर यदि २५ वर्ष की अवस्था तक भी कोई पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लेते हैं और यह ऊर्ध्व-रेतस प्राणायाम बाकायदा करते हैं तो उन्हें बिल्कुल भी वासना का बोध कभी मन के अन्दर नहीं होता। ऐसी स्थिति हो जाने के बाद यदि ऐसा ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है तो भोग-वासना की प्रवृत्ति वह बिलकुल नहीं करता, उसका लक्ष्य केवल-मात्र सन्तानोत्पत्ति ही रहता है। गृहस्थ आश्रम में भी उसका ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित नहीं होता। इसी बात को लक्ष्य में रख करके श्री मनु जी महाराज ने अपने मुखारविन्द से यह शब्द कह दिये हैं कि—

**ऋतुकालाभिकामी शामिष्यात्**
**स्वदारनिरतः सदा ।**
**ब्रह्मचारी एव भवति**
**यत्र-तत्र आश्रमे वसन् ॥**

अर्थात् जो केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति के लक्ष्य से ही पत्नी के साथ सहगामी होते हैं, उस अवस्था में भी उनका ब्रह्मचर्य-व्रत कभी भी खण्डित नहीं होता। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर पूर्णरूपेण अपने चरित्र का निर्माण कर लेता है उसके लिए फिर पतन का समय नहीं होता। गृहस्थ आश्रम में कुछ दिन निवास करने के अन्दर थोड़ी बहुत जो कमी आ जाती है, वानप्रस्थ आश्रम में योगी उसकी पुनर्जागृति कर लेता है। इस प्रकार से ब्रह्मचर्य आश्रम में पूर्णरूपेण चरित्र निर्माण करके थोड़ा बहुत गृहस्थ व वानप्रस्थ के नियमों का पालन करता हुआ व्यक्ति संन्यास आश्रम में जा करके देश का एक बहुत बड़ा सुधारक एवं प्रचारक बन जाया करता है, क्योंकि वह शक्ति-सम्पन्न रहता है। अतः उसकी वाणी का प्रभाव दूसरों पर अधिकाधिक पड़ता है। साथ ही यह देश के सुधार का एक जीता-जागता उदाहरण बन जाया करता है। इसलिए ब्रह्मचर्य आश्रम ही मनुष्य के चरित्र निर्माण का एक आधार है इसको निर्वाह करने वाले व्यक्ति सब प्रकार से कृत-कृत्य हो जाया करते हैं।

**सर्वे सन्तु सुखिनः,**
**सर्वे सन्तु निरामया।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,**
**मा कश्चिद्दुखभाग्भवेत्॥**

## सृष्टि में क्रम तथा नियम-बद्धता का कारण

सृष्टि में सर्जन हो रहा है, विकास हो रहा है। गति हो रही है, वस्तु जैसी आज है वैसी कल नहीं रहती। परिवर्तन निरन्तर, हर क्षण होता रहता है। यह परिवर्तन, यह सर्जन, यह विकास जड़ प्रकृति का गुण नहीं है। यह कहीं से आता है। जड़ प्रकृति में, वृक्ष में, वनस्पति में, प्राणी जगत में, परिवर्तन सब जगह हो रहा है, हर वस्तु कार्य है कर्ता है। इस सर्जन विकास और परिवर्तन को लाने वाली कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए, उसी चेतन सत्ता को ईश्वर कहते हैं। इस विकास और परिवर्तन में हम यह भी देखते हैं कि इसमें नियम-बद्धता है सब कुछ एक नियम में बँधे से प्रतीत होते हैं। जहां नियम है वहां कोई नियामक भी होना चाहिए। जहां कर्म है वहां कर्ता भी होना चाहिए। सब जगह नियम काम करता है। अतः चेतन सत्ता को नियन्ता भी कहा जाता है।

—स्वामी सत्यदेव

# 卐 रहना नहिं देश बिराना है

डॉ० श्री दयाशंकर शर्मा

अंग्रेजी–विभाग, आगरा कालिज, आगरा

आज ताज की नगरी में एकाकी लाल-किला अपने सूने हृदय में स्मृतियों का तूफान सँभाले, यमुना की अजस्र जल-धारा को निर्निमेष नयनों से एकटक देखता रहता है। कहां गये वे दिन जब सुन्दरियों के सुकुमार पग-चाप से पाषाण हृदय भी धड़कने लगता था। कहां गयीं वे हूरें जिनकी मतवाली आंखों से यौवन के मधु की लाली छलकती रहती थी। अपी खुमार भार से पलकें अलि-अलकें मुख पर मंडराए, इठलाये, बलखाये दामन में सौ-सौ बिजलियाँ छिपाये! इन्हीं प्रस्तरों पर न जाने कितनी अनारकलियों की प्रणय-कथायें और विरह-व्यथायें अंकित हैं। मयूर-सिंहासन की छटा भादों की घटा की तरह विलीन हो गई। राग-रूप—रस-रंग का समां अतीत की अमा के अन्धकार में खो गया। मुगलों के वैभव के मजार पर बहार आकर खिजां बनकर सिसकती चली जाती है। शहनाई की सुमधुर ध्वनि आज झींगुरों के रव में सुनाई पड़ती है। पतझर के पत्तों के मर-मर स्वर में उत्थान-पतन की विकल रागिनी मुखरित होती रहती है। काल के गाल में सब कुछ समा गया—

कह रहा है आसमां यह सब समां कुछ भी नहीं।
पीस दूंगा एक गर्दिश में जहां कुछ भी नहीं॥

अनादि काल से ये कारवां चलता चला आ रहा है—घड़ी-घड़ी, पल-क्षण। सूर्य चला, चांद ढला, रात गई, प्रातः हुआ। नव बसन्त पाटल कल पतझड़ का पात हुआ—

सुबह होती है शाम होती है।
उम्र यूँ ही तमाम होती है॥

जीवन की क्षणभंगुरता को जानते सब हैं किन्तु मानते कम हैं। यक्ष के पेचीदा प्रश्न का उत्तर धर्म-दक्ष युधिष्ठिर ही देने में सक्षम हुए थे। किमाश्चर्यम्? वास्तव में इससे बढ़कर क्या आश्चर्य हो सकता है कि मनुष्य जानता है कि एक दिन मुझे मरना है फिर भी अपने को अमर समझता है। "सामान सौ बरस का है पल की खबर नहीं।" राम-नाम के बोल के साथ श्मशान पहुँचकर ही मनुष्य उस परम सत्य की झलक पाता है। क्षणिक वैराग्य की भावना माया के मोहक जाल में फँसकर फिर कामिनी, कादंब और काञ्चन की कामना में लीन हो जाती है।

यवनराज 'मंडास' ने कठोर तपस्या के पश्चात् देवता के प्रसन्न होने पर केवल यही वरदान मांगा कि जिस वस्तु का वह स्पर्श करे वह स्वर्ण बन जाय। देवता के 'तथास्तु' कहने

पर 'मैडास' अपने महल की ओर लौटा। स्वागत करने को सर्वप्रथम उसकी प्रिय पुत्री आनन्दोल्लास से आगे आई किन्तु पिता के स्पर्श से तुरन्त स्वर्ण-प्रतिमा बन गई। यही नहीं जब स्वर्ण-लोलुप 'मैडास' ने भोजन के समय ग्रास-ग्रहण करने का प्रयास किया तो वह भी ठोस सोने का हो गया। कञ्चन का मोह एक दिन मनुष्य को कितना अकिंचन बना देता है।

ब्रह्माण्ड-सरोवर में जीवन की तरंगें उठती हैं, लहराती हैं और विलीन हो जाती हैं। लहरों का चिरंतन नर्तन होता रहता है। अनन्त आकाश के शून्य-पट पर माया की छाया में मनुष्य भरमाया रहता है। योगवाशिष्ठ में इस जगत को इन्द्र-धनुष के सदृश माना गया है। जैसे इन्द्र-धनुष बहुरंगा दृष्टिगोचर होता है किन्तु वास्तव में उससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, वैसे ही यह संसार भ्रम मात्र है। दृश्यमान जगत केवल मनोविकार है। शॉपनहार ने संसार को केवल एक कल्पना अथवा मन से स्फुरित मानवीय भावना के रूप में देखा।

सिद्धार्थ गौतम ने बोधि-वृक्ष की छाया में सकल ब्रह्माण्ड को एक महाशून्य के रूपमें देखा–

सर्वं शून्यं शून्यम् ।
सर्वं क्षणिकं क्षणिक ।
सर्वं दुःखं दुःखं ॥

यह असार संसार क्षण-क्षण बदलता रहता है और दुःख से आप्लावित है। अपने जीवन काल में ही मनुष्य के तीन स्वरूप देखते-देखते अदृश्य में विलीन हो जाते हैं। खिली कली सा शैशव का अमल धवल, सरल मोहक रूप, व्यक्तित्व और शक्ति के अहङ्कार से उफनता हुआ तरुणाई का ज्वार और अन्त में जरा-जीर्ण काया का भार ढोते-ढोते मनुष्य का अस्तित्व अतीत के गर्भ में समा जाता है। सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन और हिटलर का विश्व-विजय का स्वप्न खण्ड-खण्ड हो गया। शूरवीर सेनानी, चक्रवर्ती सम्राट, कवि और दार्शनिक सभी काल-कवलित हो गये—

माली आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूलें-फूली चुन लयीं कालि हमारी बार॥

काल-रथ के पहिये की चाल का भूचाल एक दिन सब कुछ मिटाकर हमवार कर देता है—

सब ठाट पड़ा रह जायेगा,
जब लाद चलेगा बनजारा।

तभी तो कहा गया है कि—"This world is a bridge, pass thou over it, build not upon it, for the rest is unseen." संसार-सेतु पर जिसने स्थायित्व की भावना से निर्माण किया वह सब ध्वस्त हो गया। जिनके साम्राज्य में सदा सूर्य चमकता रहता था वह भी एक दिन अस्त हो गया। जिसने इस रहस्य को समझ लिया, वही मस्त हो गया—'रहना नहिं देस बिराना है।'

# ॐ जन्म-कर्म च मे दिव्यम्

❀ श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

काल-चक्र, जग-चक्र और युग-चक्र को चलाने वाले योगयोगेश्वर जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने महाभारत के विषम-स्थल में महात्मा अर्जुन को निमित्त बनाकर इस प्रकार उपदेश दिया कि :—

जन्म कर्म च मे दिव्य-
मेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म,
नैति मामेति सोऽर्जुन ।
(गीता ४/९)

अर्थात् हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है। लोक के अनुसार नहीं है, इस प्रकार जो पुरुष तत्वसे जानता है, वह शरीर को त्याग कर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है वरन् मुझे ही प्राप्त होता है !

लौकिक और अलौकिक शब्दों पर विचार-कर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर का जन्म लेना, उनका प्रगट होना उनकी स्वतन्त्र लीला है और सांसारिक जीवों का जन्म लेना दुःखमय है। ईश्वर के जन्म लेने का हेतु है पीड़ित और दुःखीजनों की कल्याण भावना और जीव के जन्म लेने का कारण है उसके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म। जीवों के शरीर अनित्य, पापमय, लौकिक और रोगग्रस्त होते हैं, जबकि ईश्वर का शरीर परम दिव्य और अलौकिक होता है।

भारत की इस पवित्र आध्यात्मिक भूमि पर दो अवतारी पुरुषों के चरित्रों की विशेष महत्ता है। इनमें एक ने त्रेतायुग में अवतार लेकर, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के नाम से, दिव्य कार्य करके आदर्श उपस्थित किया तो दूसरे—योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने द्वापर में प्रकट होकर दुष्टों का दमन कर धर्म की स्थापना की। इन्हीं अवतारी पुरुषों की चरितावली को सामने रखते हुए जग-दात्मा श्रीकृष्ण के उपरोक्त अमृतमय वाणी को समझने-समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है विज्ञ पाठकगण त्रुटियों को क्षमा करने की कृपा करेंगे।

सर्व प्रथम मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जन्मसे सम्बन्ध रखने वाला प्रसंग लिया जाय तो उसमें वर्णित है कि महाराजा मनु एवं उनकी प्रिया सतरूपादेवी की अत्यन्त तपस्या

एवं लगन ( सच्ची प्रीति ) से प्रसन्न होकर भगवान ने उनसे इस प्रकार कहा—

बोले कृपानिधान पुनि,
अति प्रसन्न मोहि जानि।
मांगहु बर जो भावमन,
महादानि अनुमानि ॥

अर्थात् हे राजन् ! यह जान करके कि मैं महादानी हूँ और इस समय मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ जो तुम्हारे मन में भावे (अच्छा लगता हो) वह वरदान हमसे मांग लो। भगवान की अमृतमयी वाणी को सुनकर महाराजा मनु ने प्रार्थना की—

दानि सिरोमनि कृपानिधि,
नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुमहि समान सुत,
प्रभु सन कवन दुराउ ॥

अर्थात् हे दानियों में अग्रगण्य कृपा-सागर ! आपसे संकोच रहित होकर प्रार्थना करता हूँ कि आपके समान ही पुत्र चाहता हूँ। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुख से कहा —

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले,
एवमस्तु करुनानिधि बोले।

उपरोक्त तथ्य को सही करके दिखलाती है श्रीरामचरितमानस की निम्न कथा—

बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार,
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार।

इस प्रकार श्रीरामचरित मानस का उपरोक्त सभी प्रसंग यह प्रमाणित करता है कि भगवान कितने सर्व समर्थ हैं और इसके साथ ही वह प्राणीमात्र को उसकी इच्छा, श्रद्धा एवं तपस्या के अनुसार उसकी मनोकामना पूर्ण किया करते हैं।

अब जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उपदेशित श्रीगीता के निम्न श्लोक का अवलोकन किया जाय--

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा,
भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय,
संभवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४/६)

अर्थात् मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत-प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके, योगमाया से प्रगट होता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि जब मैं अपनी प्रकृति को अधीन करके प्रगट होता हूँ तो तत्त्व एवं मेरे प्रभाव को न जानने वाले मूर्खों को मैं साधारण मनुष्य की तरह जन्म लेता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ और जब मैं सगुण रूप से अपनी लीला समाप्त करता हूँ तो उनको मैं विनाश होता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ यद्यपि ऐसा है नहीं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने प्रकट होने के रहस्य को समझाते हुए कहा है: —

यदा यदा हि धर्मस्य,
ग्लानिर्भवति भारत् ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य,
तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां,
विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय,
संभवामि युगे-युगे ॥
(गीता ४/७-८)

अर्थात् हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ । साधुपुरुषों का उद्धार करने के लिए तथा दूषित कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए तथा धर्म-स्थापना के लिए युग-युगमें प्रकट होता हूं । इसी प्रकार श्रीमद्भागत में श्री ब्रह्माजी भगवान श्रीकृष्ण से कहते हैं कि—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य,
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण,
साक्षात्तवैव किमुतात्म सुखानुभूतेः ॥
(भागवत १०/१४/२)

अर्थात् हे देव ! आपके इस दिव्य प्रकट देह की महिमा को कोई भी नहीं जानता, जिसकी रचना पञ्चभूतों से न होकर मुझ पर अनुग्रह करने के लिए अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार ही हुई है फिर आपके उस साक्षात् आत्म सुखानुभव स्वरूप को हम लोग समाधि के द्वारा भी नहीं जान सकते ।

इस प्रकार का वर्णन है कि भाद्रपद महीने के कृष्ण पक्ष अष्टमी की रात्री रात को कंस के कारागार में भगवान श्री वसुदेव-देवकी के सामने प्रकट हुए । भगवान के शरीर का रंग नीलकमल के समान नील-श्याम था । उन्होंने मनोहर पीताम्बर धारण किया था । उनके चार भुजाएँ थीं और उनमें शङ्ख, चक्र, गदा और कमल सुशोभित हो रहे थे । भगवान रत्नों से युक्त मुकुट, कुण्डल, कङ्कण और बाजूबन्द आदि से सुशोभित हो रहे थे । इसके साथ ही उनके अंगों से इतना प्रकाश निकल रहा था कि समस्त कारागार प्रकाशित हो रहा था । श्री भगवान के इस अलौकिक रूप का दर्शन कर श्रीवसुदेव-देवकी निहाल हो गये एवं माता देवकी ने प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्न दो रूपमलौकिकम्,
शंखचक्रगदा पद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ।
( भाग० १०/३/३३ )

अर्थात् हे विश्वात्मन् ! आप शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और श्री से सुशोभित चार भुजा वाले अपने इस अद्भुत रूपको छिपा लीजिये, इस प्रकार माता देवकी के प्रार्थना करने पर भगवान ने शिशुरूप बालक रूप धारण किया—

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं,
भगवानात्ममायया ।
पित्रोः संपश्यतोः सद्यो,
बभूव प्राकृतः शिशुः ॥
( भाग० १०/३/४६ )

उपरोक्त तथ्य इस बात को प्रमाणित करता है कि भगवान ने अपनी इच्छानुसार अपनी योगमाया से अवतार धारण किया।

जब इस बात पर विचार किया जाय कि भगवान के कर्म कैसे दिव्य हैं, वैसे भगवान का प्रत्येक कार्य दिव्य ही है, फिर भी श्रीरामचरित मानस के निम्न स्थल का अवलोकन किया जाय—

एक बार जननी अन्हवाए।
करि सिंगार पलना पौढ़ाए॥
निज कुल इष्ट देव भगवाना।
पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा।
आप गई जहँ पाक बनावा॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई।
भोजन करत देख सुत जाई॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता।
देखा बाल तहां पुनि सूता॥
बहुरि आई देखा सुत सोई।
हृदय कंप मन धीर न होई॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।
मतिभ्रम मोर की आन बिसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी।
प्रभु हँसि दीन मधुर मुसुकानी॥

इसी प्रकार यदि श्रीरामचरित मानस का अध्ययन किया जाय तो श्रीराम के चरित्र में आदि से अन्त तक दिव्यता ही प्रकट होती है। ताड़िका वध, भगवान शंकर के कठिन धनुष को तोड़ना, खरदूषण वध, बालि वध, रावणवध और शरणागत विभीषण को मिलते ही स्वर्णपुरी लंका का राज्य प्रदान करना क्या लौकिक कार्य है? असुर सम्राट रावण का वध कर माता जानकी के साथ अयोध्या नगरी पधारने पर सर्व प्रथम चौदह वर्ष की लम्बी अवधि का वरदान देने वाली माता कैकेई से सर्व प्रथम मिलना क्या साधारण मनुष्य के कार्य है? देखिये इसका प्रसंग -

प्रभु जानी कैकेई लजानी।
प्रथम तासु गृह गये भवानी॥

इसी प्रकार उनके वनवास के बाद अयोध्या आने पर प्रायः सभी अयोध्यावासी चाहते थे कि सबसे पहले मैं उनके मिलने का लाभ उठाऊँ। भगवान उनके मन की बात जानकर अपनी योगमाया से यह कार्य किया—

प्रेमातुर सब लोग निहारी।
कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला।
जथा योग मिले सबही कृपाला॥

इसीसे श्री रामचन्द्र जी के चरित्र के सम्बन्ध में भगवान सदाशिव मा उमा से कहते हैं--

लछिमन गये बनहिं जब, लेन मूल फल कन्द,
जनकसुता सन बोले बिहँसि कृपा सुख वृन्द ।।

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला ।
मैं कछु करबि ललित नरलीला ।।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा ।
जो लगि करौं निसाचर नासा ।।
जबहिं राम सब कहा बखानी ।
प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी ।।
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता ।
तैसइ सील रूप सुबिनीता ।।
लछिमन हूँ यह मरमु न जाना ।
जो कछु चरित रचा भगवाना ।।

अब इसके उपरान्त जगदात्मा श्रीकृष्ण के कर्मों की तरफ यदि ध्यान दिया जाय तो बाल्यकाल से लेकर लीला समाप्त तक उनका प्रत्येक कार्य दिव्य ही है। बाल्यकाल में मिट्टी खाने पर माता द्वारा मुँह दिखलाने को कहने पर अपना विश्व रूप दिखलाना, पूतना-वध, शकटासुर-वध, तृणावर्त वध, बकासुर-वध, अघासुर-वध, कालियानाग-मर्दन, धेनुक-वध, व्योमासुर-वध और कंस जैसे अजेय दुष्टों का वध क्या लौकिक कार्य है ? महात्मा अर्जुन का मित्र और गुरुदेव होने पर भी उनके बैरी दुर्योधन को युद्ध में समान सहायता प्रदान करना श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर का ही कर्त्तव्य है। प्रसंग इस प्रकार है कि महाभारत का युद्ध आरम्भ होने से पूर्व महात्मा अर्जुन एवं दुर्योधन दोनों ही सहायता मांगने भगवान श्रीकृष्ण के सामने उपस्थित हुए। श्रीमुख से आदेश हुआ, एक तरफ हमारी एक अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ। इसके साथ शर्त यह भी है कि युद्ध में मैं हथियार नहीं उठाऊँगा। श्रीमुख के इतना कहने के पश्चात् मांगने की बारी दुर्योधन की पहिले पड़ी। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र को साधारण ग्वाला समझने वाले दुर्योधन ने सोचा कि इनको अकेले लेकर मुझे रण-भूमि में बंशी थोड़े ही बजवाना है। अतः उसने नारायणी सेना मांग ली एवं महात्मा अर्जुन को अपने आप मिल गये उसके अपने कर्णधार श्रीकृष्णचन्द्र ! कितना सुन्दर प्रसंग है—

कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा,
सम्प्राप परमां मुदम् ।
दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं,
सर्वमादाय पार्थिवः ।।

(७/२४)

भगवान श्रीकृष्ण के प्रभाव को दुर्योधन नहीं जानता था, अतः उसने भगवान द्वारा नारायणी सेना प्रदान करने में उनकी उदारता, समता और महत्ता का तत्व न समझ

कर इसमें उनकी मूर्खता समझी। उसने सोचा कि मैंने भगवान को ठग लिया। ऐसा प्रायः हुआ ही करता है कि जो लोग सिद्ध योगिराज एवं भगवान के प्रभाव को नहीं जानते, उनको उनकी क्रियाओं में गुण के स्थान पर दोष दिखलायी देता है। अन्त में श्रीमद्भागवत के निम्न श्लोक के साथ ही भगवान की लीला समाप्त कर रहा हूँ, यथा—

लोकाभिरामां स्वतनुं,
धारणाध्यान मङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्या दग्ध्वा,
धाम विशत्स्वकम् ॥
(११/३१/६)

अर्थात् भगवान योगधारणा-जनित अग्नि के द्वारा धारणा ध्यान में मङ्गलकारक अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्ति को भस्म किये बिना ही इस अपने शरीर परमधाम को पधार गये।

---

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षो सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च प्राणात् वायुः अजायत॥
(ऋग्वेद मण्डल १०/९०/१४)

हमारा शरीर हमीं तक समाप्त नहीं हो जाता वह वृक्ष, वनस्पति, सूर्य, चन्द्र, तारे—सभी से जुड़ा हुआ है। सूर्य हमसे १० करोड़ मील दूर है, परन्तु उसकी गर्मी से हमारा जीवन बना हुआ है। चन्द्रमा का मन पर प्रभाव पड़ता है, पूर्णमासी आने पर समुद्र में तूफान आ जाता है, पागल ज्यादा पागल हो जाता है। ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड की एक सूत्रता का इतना सूक्ष्म वैदिक ऋषियों ने समझा था कि चन्द्र का मन से, सूर्य का चक्षु से, वायु का प्राण से, सहानुभूति का सम्बन्ध उन्होंने जोड़ दिया था। उस चेतन सत्ता की अगर पुरुष रूप में कल्पना की जाय उसके मन से चन्द्र, चक्षु से सूर्य, प्राण से वायु की कल्पना की गई है। इतना ही नहीं, समाज की कल्पना भी उस शक्ति को पुरुष मानकर की गई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत बाहू राजन्य कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

यह स्थल वर्ण विवेचना का नहीं किन्तु इतना स्पष्ट है कि समाज अपने गुणों और प्रवृत्तियों के अनुसार इन्हीं चार भागों में बंटा होता है।

# 卐 योगाभ्यासी का कच्चा आहार

❀ श्री रामसजीवनसिंह

कच्चा भोजन कीजिए, सात्विक रुचिकर खाद्य।
रोग मेटिए योग से, अपने साध्य असाध्य ।।
अपने साध्य असाध्य रोग को जड़ से काटो ।
क्रोध मोह मद लोभ आदि की खाई पाटो ।।
मिर्च मसालारहित स्वास्थ्यप्रद भोजन कच्चा।
फल सब्जी अंकुरित अन्न सब खाओ कच्चा ।

यदि योगियों के जीवन का गहराई से अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि उन्होंने योगाभ्यास काल में जंगलों में रहकर कच्चे (बिना आग में पकाये हुए) भोज्य पदार्थों का सेवन करते हुए अपनी साधना में रत लक्ष्य को प्राप्त किया। वे समाज में आज भी देवता के रूपमें पूजे जाते हैं। उनकी पूजा की सामग्री में लोग फल, फूल आदि सात्विक पदार्थों को शामिल करते हैं।

योगाभ्यासी ऋषि भरद्वाज के आश्रम में जब भव प्रत्यग योगी राम, लक्ष्मण तथा सीता के साथ पहुँचे तो उन्होंने उनको स्वय खाने के लिए कच्चे कन्दमूल फल तथा अंकुरित अन्न ही दिये थे। जैसा कि महाकवि तुलसीदास जी ने स्वय अपनी रामचरित मानस में स्वीकार किया है—

कन्द मूल फल अंकुर नीके ।
दिए आनि मुनि मनहु अमी के ।।
सीय लखन जन सहित सुहाये ।
अति रुचि लागि राम फल खाये ।।

इनके आश्रम में १०,००० योगाभ्यासी साधक कच्चा फल मूल और अंकुरित अन्न खाकर योग साधना में रत विद्या अध्ययन करते थे। इससे सिद्ध होता है कि वे कन्दमूल फल तथा अंकुरित अन्न ही खाते थे। अतिथियों का स्वागत भी उन्होंने ऐसे खाद्य पदार्थों से ही किया।

महावीर हनुमान जैसे योगी का तो एक मात्र फल ही भोजन था। कच्चे भोजन का सेवन करते हुए उन्होंने सुषुम्ना नाड़ी के द्वार पर स्थित सूर्य में संयम किया था। आकाश के सूर्य को निगलने वाली बात तो उनकी योग साधना को न समझने के कारण कह दी गई। जैसा कि भगवान पतंजलि ने योगदर्शन के विभूतिपाद के सूत्र २७ में कहा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।

अर्थात् सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है। हनुमान जी का सीता

का पता लगाना तथा लक्ष्मण शक्ति लगने पर संजीवनी बूटी का लाना आदि इसके स्पष्ट उदाहरण है।

कच्चे खाद्य पदार्थ पक्के की तुलना में अधिक लाभकारी होते है। पके खाद्य पदार्थों की अपेक्षा कच्चे खाद्य पदार्थ अधिक पोषण देते हैं तथा दवा का काम करते हैं। वे अधिक समय तक जीवित रहते हैं एवं जल्दी पचते हैं। मिर्च, मसाला, तेल आदि से पका स्वादिष्ट भोजन शीघ्र नहीं पचता। पचने पर राजसी तथा तामसी होने के कारण मन में विकार उत्पन्न करता है। साथ ही साथ रोगजनक सिद्ध होता है। पके की अपेक्षा कच्चे में विटामिन अधिक होते हैं। स्टार्च और प्रोटीन अधिक मिलता है, जिससे हड्डियां मजबूत होती हैं। इसमें मिलावट का प्रश्न ही नहीं उठता जबकि पके खाद्य पदार्थों में मिलावट होती है। पके भोजन में पकाने वाले व्यक्ति के मन का प्रभाव पड़ता है। यदि पकाने वाले का मन दूषित है तो ऐसा भोजन योगाभ्यासी के मन में भी विकार पैदा कर सकता है। इसीलिए योगाभ्यासी के लिए कच्चा आहार ही सर्वोत्तम है।

योगाभ्यासी को स्वस्थ होना अत्यावश्यक है। महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा देते हुये लिखा है —

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।

(समाधिपाद सूत्र २)

अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। यहीं से योग की वर्णाक्षरी प्रारम्भ होता है।

रोगी व्यक्ति का मन कैसे एकाग्र हो सकता है? रोग से ग्रसित जीर्ण-शीर्ण काय मानव न तो हठयोग का ही अधिकारी होता है और ना ही बिना सद्गुरु कृपा के सिद्धयोग में ही प्रगति कर सकता है। अष्ट चक्र, एवं कुण्डलिनी से युक्त बहत्तर हजार नाड़ियों (जिनमें सुषुम्ना जैसी मुख्य नाड़ी) सहित योग-साधना की अनुपम मशीन मानव शरीर बड़ी मुश्किल से मिलता है। इसका सदुपयोग न करने वाला चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकता रहता है।

मानव का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। दूषित आहार से मन भी दूषित हो जाता है। कहावत भी है—'जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन।' यहां तक कि अन्न का प्रभाव तो सन्तान पर भी पड़ता है। जैसा कि एक संस्कृत के श्लोक का मैंने हिन्दी में इस प्रकार अनुवाद किया है--

अन्धकार दीपक भखे, कज्जल करत प्रदान।
अन्न जौन जस खात है, वैसी हो सन्तान॥

योगाभ्यासी का आहार सात्विक होना चाहिए। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता में सात्विक भोजन के लक्षण इस प्रकार बताए हैं-

आयुः सत्त्वबलारोग्य
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा
हृद्या आहार सात्त्विकप्रियाः ।
(गीता १७/८)

अर्थात् आयु, बल, आरोग्य सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले तथा रसीले, चिकने, स्थिर एवं हृदय के लिए हितकारी भोजन सत्वगुणी मनुष्यों को प्रिय होते हैं। मधुर, शीतल, स्निग्ध, सरस, शुद्ध, पवित्र और शीघ्र पचने वाले ओज एवं कान्तिप्रद पदार्थ, जैसे गाय का घी, दूध, गेहूँ, जौ, चावल, मूंग, मोठ, उत्तम फल पत्तों के शाक, काली तोरई, घीया आदि सात्विक हैं।

योगाभ्यासी के लिए गाय के धारोष्ण दूध का विशेष महत्व है। कहीं-कहीं चित्रों में योगिराज कृष्ण को बालक के रूप में धारोष्ण दूध गाय के स्तन से पान करते हुए दिखाया जाता है। दूध पकाने से गरिष्ट हो जाता है। गाय के दूध के समान संसार में कोई पदार्थ नहीं जिस पर जीवन निर्वाह या शरीर का विकास किया जा सके। धन्वन्तरि ने गो दुग्ध के सम्बन्ध में निघण्टु में लिखा है—

पथ्यं रसायनं बल्यं हृद्यं
मेध्यं गवां पयः।
आयुष्यं पुंस्त्वकृद्वात-
रक्तविकारनुत् ॥
(सुवर्णादि षष्ठो वर्गः)

अर्थात् गाय का दूध सब रोगों वा अवस्थाओं में सेवन करने योग्य रसायन, बलकारक, हृदय के लिए हितकारी, मेधा को बनाने वाला, आयु को बढ़ाने वाला, पुंस्त्व शक्ति अर्थात् वीर्यवर्द्धक, वातनाशक और रक्तपित्त के विकारों को दूर करने वाला है।

सभी आयुर्वेदाचार्यों ने गाय के दूध की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। यहाँ तक कि शास्त्रों में इसे "सद्यः शुक्रकरं पयः" तत्काल वीर्यवर्द्धक लिखा गया है। काली गाय का दूध तो क्षय रोग तथा लाल गाय का दूध मधुमेह की अचूक औषधि है। गो दुग्ध में ए. डी. विटामिन के अतिरिक्त आयोडीन और कैरोटीन होते हैं, जो विटामिनों के गुणों को सुरक्षित रखता है। यह छूत के रोगों से बचाता है। इसका प्रोटीन आसानी से पच जाता है।

एच० एस० गैम्बर्स (H. S. Gambers) ने अपनी पुस्तक "मिरेकिल्स आफ मिल्क" (Miracles of Milk) में कच्चे, ताजे दूध की प्रशंसा इस प्रकार की है—'अलावा विटामिन ए, बी, सी रखने के दूध में एक प्रकार के सफेद जीवाणु बिलकुल रक्त के सफेद जीवाणुओं की तरह होते हैं। रक्त के ये सफेद जीवाणु रोग प्रतिरोध व शरीर की शक्ति बढ़ाने में सहायता करते हैं। यह संक्रामक रोगों के कीड़ों से युद्ध करते हैं और शक्तिशाली होने पर उन्हें नष्ट करके शरीर को

सुरक्षित रखते हैं। जिनके रक्त में ये जीवाणु कम या कमजोर होते है, वे किसी न किसी रोग से सर्वत्र पीड़ित रहते है। यह दूध के जीवाणु शरीर में पहुँच कर उनकी संख्या चौगुनी कर देते हैं, क्योंकि यह उन्हीं के समान होते हैं। एक प्याला दूध पीने के थोड़ी देर बाद उनकी संख्या बढ़ना शुरू होती है और रक्त के थोड़ी देर बाद उनकी संख्या सफेद जीवाणुओं को बढ़ाकर चौगुना तक कर देता है। अंग्रेजी में एक कहावत भी है—

Cow milk and honey are the root of beauty. ( गौ दुग्ध और मधु सौन्दर्य के मूल कारण है। ) किन्तु याद रहे यह सब गुण धारोष्ण दूध के हैं। आग में अधिक देर तक पकाए हुए गरिष्ठ दूधके नहीं।

उपरोक्त गुणों के कारण ही हमारे सद्गुरु-देव योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज नेती के पश्चात् नाक से गुनगुना दूध पीने की आज्ञा देते हैं। नाक से पिया गया दूध तत्काल पच जाता है तथा चौगुनी शक्ति प्रदान करता है। अर्थात् पाव भर दूध एक सेर का काम करता है। नाक से पिया गया दूध रक्त अल्पता की अपूर्व औषधि है। योगा-भ्यासी कम मात्रा में सेवन कर अधिक लाभ उठा सकता है।

दुग्धाहार के पश्चात् योगाभ्यासी के कच्चे आहार में फलों का नम्बर आता है। फलों में वीर्य, कान्ति और ओज को बढ़ाने की शक्ति है। इनसे सत्व-शक्ति की वृद्धि तथा मन की चञ्चलता नष्ट होती है और स्वास्थ्य भी अत्युत्तम हो जाता है। फल ताजे, पके तथा दोषरहित ही ग्रहण करने चाहिए। सड़े हुए फल का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। चाहे कम सड़ा हो या अधिक। आंवला, अंगूर अजीर, अमरूद, आम, केला, सेब, नारंगी, नासपाती, नीबू, सिंघाड़ा, कसेरू, पपीता, खजूर, खरबूजा, अनार आदि तथा सूखे मेवे सभी बिना आग से पकाए ही खाने चाहिए। डाल के पके हुये फल ही अधिक उपयोगी होते हैं। कृत्रिम रूप से पकाए गये फलों की शक्ति क्षीण हो जाती है।

शाक अल्प मात्रा में ही कच्चा खाना चाहिए। इसका अधिक खाना तो वास्तव में हानिकारक है। अधिकता तो हर चीज की खराब होती है। शाक में ऊपर से नमक डालने की आवश्यकता नहीं होती। उचित मात्रा में लवण तो उसमें रहता ही है। मटर, करौंदी, मेथी, चना, चौलाई, पालक, बथुआ आदि के दलो अल्प मात्रा में कच्चे खाए जा सकते हैं। चौलाई में सोने का अंश होता है। यह सोने की भस्म की भांति लाभकारी है। पालक तो विटामिन ए. बी. सी. डी. तथा लोहे का भण्डार है।

फलों के शाक में महाकोशतकी ( घीया

तोरई ) राजकोशातकी ( तोरई ) पटोल (परवल के फल), डिण्डश (टिण्डा), अलाबू (घीया) कर्कटी (ककड़ी), सेम आदि भी कच्चे खाने में हितकर हैं। कन्द शाकों में मूली (पत्ते सहित) गाजर, गोभी, रक्तालु (शकरकन्दी), जिमीकन्द, कदलीकन्द, मानकन्द, बिदारीकन्द, रतालू कच्चे खाए जा सकते हैं। पुराना, बिना ऋतु में उत्पन्न हुआ, रोगयुक्त, दीमक आदि कीड़ों का खाया हुआ, निकृष्ट भूमि में उत्पन्न हुआ, सर्प आदि से दूषित तथा अति सूखा हुआ कन्द नहीं खाना चाहिए।

अन्न को सूखा न खाकर अंकुरित करके खाना चाहिए। चना, गेहूं, उरद, मूंग, मटर, अरहर, सोयाबीन, आदि सभी तरह के अन्न अंकुरित करके नित्य खाना अति उत्तम है। अंकुरित अन्न की पौष्टिक शक्ति तथा विटामिन शक्ति बढ़ जाती है।

किसी भी अन्न को अंकुरित करने के लिए पहले उसे तीन बार साफ पानी से अच्छी तरह धो लेना चाहिए। तत्पश्चात् दुगने पानी में १२ घण्टे तक भीगने देना चाहिए। १२ घण्टे के बाद उसे पानी से निकाल कर किसी मोटे गीले कपड़े में डोरी से बांधकर खूंटी में लटका देने से १२ से २४ घण्टे में अंकुर निकल आयेंगे। बचे हुए पानीको फेंकना नहीं चाहिए उसे पी लेना चाहिए। यह पानी भी बहुत उपयोगी होता है। घुना हुआ अन्न नहीं भिगोना चाहिए। इसके लिए छटे हुए बीज के लिए उपयोगी अन्न ही अच्छे होते हैं।

रोगी तथा दुर्बल व्यक्ति कच्चा भोजन आसानी से कैसे पचायें ? इस प्रश्न को हमारे दादा गुरु सिद्धेश्वर अनन्त महाप्रभु रामलाल जी ने 'जीवन तत्व साधन' का निर्माण करके हल कर दिया है। इस साधन की ६ क्रियाएँ होती हैं – (१) सर्वोत्तान, (२) स्कन्ध चालन, (३) पग -चालन, (४) नाभि चालन, (५) जानु-प्रसार, (६) बाल मचलन, (७) बच्चे का ध्यान, (८) नाड़ी संचालन, (९) उत्क्षेपण ; इन क्रियाओं का विषद वर्णन हमारे गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक हिन्दी में 'जीवन तत्व साधन' तथा अंग्रेजी में "Practices for Developing the life force." द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। इन पुस्तकों को श्री सिद्ध गुफा सवाँई, आगरा से वी० पी० द्वारा मंगाया जा सकता है।

गुरुदेव के संरक्षण में नियमित रूप से जीवन तत्व साधन करने से वृतकाग्नि तक पैदा हो जाती है। कच्चा खाया हुआ सभी खाद्य पदार्थ आसानी से पच जाता है। अभ्यासी को हमेशा भूख लगी रहती है। इसमें तो काया-कल्प तक कर देने की शक्ति

विद्यमान है, इससे दोहरे लाभ हैं—मन के निरोध मे सहायक तथा स्वास्थ्य लाभ। साध्य, असाध्य सभी रोगों में भी यह लाभकारी है, मेरा स्वयं का अनुभव है। मैं तो जीवन तत्व साधन को अपने दादा गुरु सिद्धेश्वर अनन्त महाप्रभु रामलाल जी का महाप्रसाद मानता हूँ। भला कच्चा खाने की समस्या का सरलतम समाधान और क्या हो सकता है ?

अण्डे, माँस, मदिरा, चाय, काफी आदि तामसी खाद्य-पदार्थों का सेवन योगाभ्यासी को भूल कर भी नहीं करना चाहिए। सतगुरु के संरक्षण में योगसाधना एवं कच्चा सात्विक भोजन ही उसके लक्ष्य प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हैं। इसीलिये तो कहता हूँ—

कच्चे भोजन से मिटे, मन के सकल विकार।
बुढ़ापन का अन्त नर, होता नहीं शिकार॥
होता नहीं शिकार इन्द्रियों के पंजे का।
करे त्याग यदि पके हुए तामस व्यञ्जन का॥
मार्ग योग का गहे बनेंगे साधक सच्चे।
अगर गुरु ना मिले रहेंगे फिर भी कच्चे॥

—※०※—

## स्वबोधन

अपने आगे पृथ्वी की सम्पत्ति से तो सभी परिचित हैं; परन्तु अपने भीतर ईश्वरीय महत्ता को कोई महान् पुरुष ही देख पाते हैं।

तुम उस वस्तु को ही अपनी कहने का साहस करो, जो तुमसे ही उत्पन्न हुई हो, और तुम्हारी वस्तु वही हो सकती है, जो तुमसे हठात् छीनी न जा सके, अर्थात् जिस पर तुम्हारा पूर्ण अधिकार हो।

तुम विचारपूर्वक देख सकते हो कि संसार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के नियम से उत्पन्न होती है और नाश होती है, उस पर तुम्हारा कुछ भी अधिकार नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु के प्रति कुछ विचार तथा भाव एवं सम्बन्धासक्ति तुम्हारे अन्तःकरण की उपज है, इसी पर तुम्हारा अधिकार है कि चाहे जब तक बनाये रहो और चाहे जब मिटा दो।

संसार की जिन वस्तुओं को तुम अपने समीप देखते हो, तुम उन्हें उत्पन्न नहीं करते, तुम उन वस्तुओं के रचयिता नहीं हो, चाहे वह धनादिक पार्थिव वस्तुयें हों या स्त्री पुत्रादिकों के शरीर हों। यह सभी वस्तुयें तुम्हारे साथ रह सकती हैं फिरभी तुम्हारी नहीं हो सकती, क्योंकि जब वह अपने नियम से तुम्हारे पास से जाने लगती हैं, जब तुम प्रयत्न करते हुए भी अन्त में रोक नहीं सकते। संसार की कोई भी वस्तु तुम्हारे साथ सदा नहीं रहती, केवल तुम्हारे हृदय से उत्पन्न हुआ उन वस्तुओं के प्रति अपनत्व का भाव ही तुम्हारे साथ रह जाता है, जो कि उस वस्तु के वियोग में तुम्हें व्यथित करता रहता है, तुम्हारे जीवन की गति का जिस भाव या ज्ञान में अन्त होता है, वही आगामी जन्म का आरम्भ बनता है। —साधुवेश में एक पथिक

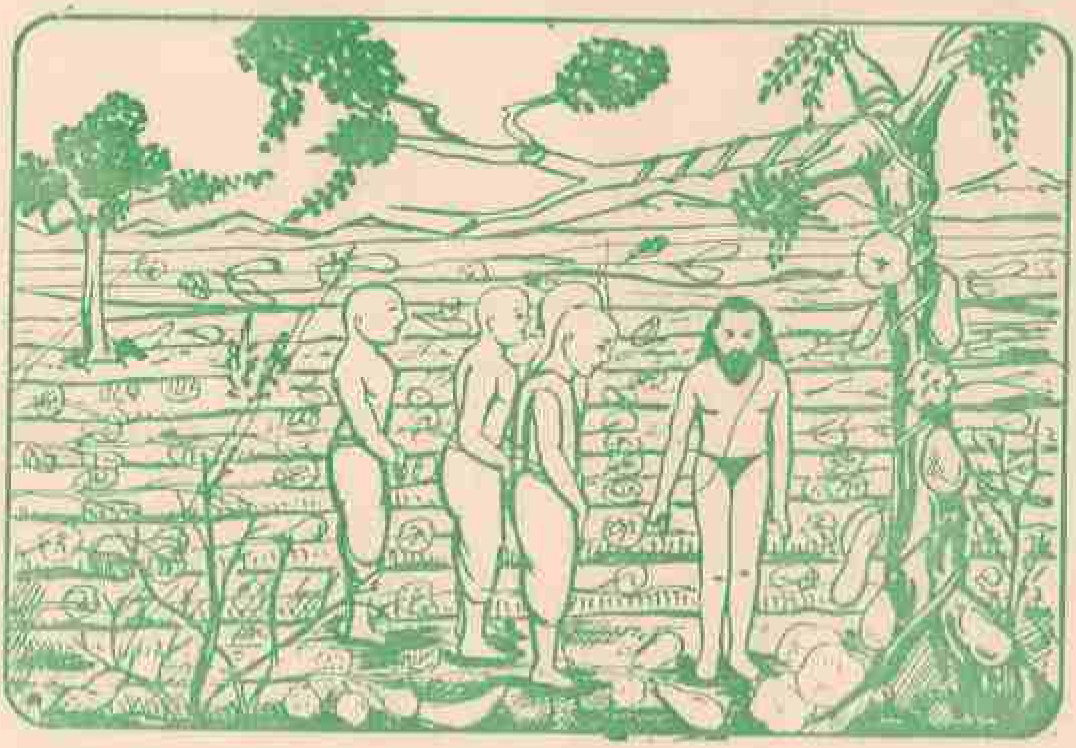

सफाई के निवास काल में आनन्दकंद श्री प्रभुजी जीवन तत्व साधन का अभ्यास कराया करते थे। एक दिन साधकों को पीपल के समीपवर्ती खेतों में से खीरा लाने को कहा चित्र में साधक खीरा खोज रहे हैं। लेकिन एक भी खीरा उन्हें नहीं मिला—तब श्री प्रभुजी स्वयं खेत में आकर दिखाते हैं तब साधकों को उसी खेत में चारों ओर खीरा लगे हुए दिखाई देते हैं। चित्र में यही दृश्य अंकित है।

# श्रीगुरु वन्दना

श्री जितेन्द्रकुमार बुलन्दशहर

गुरु वन्दन चारहुँ वेद सम अरु गुरु गिरा गिरि सरस्वति ।
गुरु वाक्य उज्ज्वल भावकर नित उदित प्रकाशत मति ॥

गुरु चक्षु हैं आगम निगम सुन्दर सुखद नित सत्य लख ।
परब्रह्म हृदय शिष्य अनुरत दक्ष सम कर कमल नख ॥

गुरु कण्ठ शंकर, वक्ष भूमा चित्त सित आकाशवत ।
गुरु उदर सागर, नाभि विष्णु, इन्द्र ब्रह्मा अनुहरत ॥

गुरु श्वांस वायु योग अग्नि नीर निग्रह वर - विरत ।
ज्ञान से खर ध्यान पर्वत भव जलध बोहित फिरत ॥

गुरु चरण रज भव रोग औषध प्रेम लब्धित हर समय ।
अखिलेख के सम जानकर निष्कपट श्री गुरुवे नमः ॥

## आत्म समर्पण

चित चिदानन्द छन्द निग्रह ज्ञान के भण्डार हो तुम ।
शब्द में सूक्ष्म विराजत जगत में साकार हो तुम ॥

हे गुरु भव मध्य रहकर फिर भी इससे पार हो तुम ।
जा मिलि आनन्द निधि में सरित शीतल धार हो तुम ॥

ऊर्जा, दिनकर तुम ही हो पर्वतों में भार हो तुम ।
अन्न अचला पर तुमही हो पवन हो करतार हो तुम ॥

कीर्ति यश पात्र सम्भव सलौने संसार हो तुम ।
तुम अजीरण और अजय हो, लोक में विख्यात हो तुम ॥

तम विनाशक हो तुमही वर उज्ज्वल परभात हो तुम ।
शारदा, राकेश, गौरा, शुभ्र हो अवदात हो तुम ॥

हो कहीं कुछ भी जितेन्द्र के प्रभु पितु–मात हो तुम ।

# 卐 मन्द मधुर मुस्कान के
# ध्यान का फल

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, एम० ए०, एम-एड०

एक बार छैलछबीले गोप-गोपीश्वर नन्द-नन्दन ब्रजचन्द श्रीकृष्णचन्द्र किसी गोपी के घर घुसकर माखन खाने लगे। माँगने से भला कोई देता है ? जिस पर कृपा करते हैं उसके यहां प्रभुजी स्वयं ही पहुँच जाते हैं भोग लगाने। गोपी ने छिपकर उन्हें देख लिया और दबेपाँव आकर उन्हें पकड़ लिया। गोपी कहने लगी—

निसि बासर मोहि बहुत सतायो,
अब हरि हाथहि आये।
माखन मेरो सब खायो,
बहुत अचगरी कीन्हीं॥
अब तो हाथ परे हो लालन,
तुम्हें भले हौं चीन्हीं।
दोउ करि पकरि कह्यो कित,
जैहो माखन लेउँ मँगाइ॥

जब ग्वालिनि बरजोरी करते-करते गुस्से में कुछ लाल-पीली होने लगी, तो मन को मोहने वाले श्याम भोले बनकर बोले—

तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो सखा गये सब खाइ।

उनकी इस बात को सुनकर गोपी ने दाँत पीसकर जैसे ही श्याम के मुख को देखा, गोपाल की मन्द-मन्द मनोहर मुस्कान ने जादू कर दिया। गोपी का सारा गुस्सा एकदम ठण्डा पड गया और कहने लगी—

नैंक ठाढ़े रह्यो श्याम, निज उर धारूँगी।

ग्वालिनि ने उन्हें हृदय से लगा लिया। सूरदास के शब्दों में—

मुख तन चितै बिहँसि हँसि,
दीन्हो रिस सब गई बुझाइ।
लियै स्याम उर लाइ ग्वालिनी,
सूरदास बलि जाइ॥

इस पद में 'रिस सब गई बुझाइ' तथा 'उर लाइ' यह पद बहुत महत्व के हैं तथा इन्हीं में ध्यानयोग के संकेत हैं। गोपी का अभिप्राय है-गो=इन्द्रियां पी=पीना अर्थात् गोभिः पिबति इति गोपी। इन्द्रियोंसे भगवान के रूप माधुर्य को पीने वाला साधिका गोपी है। गोपी-भाव दिव्य-भाव है। नारदीय भक्ति सूत्र में उत्कृष्ट भक्ति के उदाहरण में नारदजी यथा 'व्रज गोपिकानाम्' यही कहते हैं। गोपी की आँख यदि देखती है तो मोहनी सूरति को

श्यामली सूरत को हर समय और सब जगह–सोते, जागते, सब दशाओं में। कान हर समय उसकी वंशी का नाद सुनते है, जिह्वा उसके नाम का अमृत पीती है। इसी तरह सब इन्द्रियाँ उनकी रूप सुधा का पान कर छकती रहती हैं। वैसे तो उनकी अङ्ग प्रत्यङ्गों की छवि मन को हर लेती है। नख से शिख तक सब कुछ बेजोड़ है। इसलिए मन एक बार यदि उधर चला गया तो उन्हीं का हो जाता है, लौटकर वापिस नहीं आता। इसीलिए वे चितचोर हैं। इस युक्ति से चित्त को चुरा लेते है—चित्त की चञ्चलता हर लेते हैं कि देखते ही रह जाना पड़ता है। जिनको भी उनकी बांकी-झांकी की झलक मिल गई, वह अलमस्त हो जाता है। उसकी स्थिति का कबीर चित्रण करते है—

हरि रस पिया जानिये, कबहूँ न जाइ खुमार,
मैमंता घूमता फिरै, नाहीं तन की सार।

उनकी चितवन गजब ढा देती है। जिस भाग्यशाली को उनकी चितवन मिल जाती है वह दीन-दुनिया से बेखबर हो जाता है। आनन्द में इतना डूब जाता है कि दुनिया वाले उसे पागल समझने लगते हैं। उनकी चितवन तिरछी है, अन्दर घाव कर देती है। अविद्या और अज्ञान की मोटी दीवार को फाड़ देती है। वह ऐसी विषैली है कि शरीर ही क्या मन तक पर उसका असर फैल जाता है, चितवन से अधिक खतरनाक उनकी मन्द-मन्द मुस्कान है। मुस्कान तो तत्क्षण मन को चुरा लेती है। मन के सारे विषय-विकार, शोक-सन्ताप, न जाने कहां भाग जाते हैं। विशुद्ध सतोगुण का समुद्र हिलोरें लेने लगता है। नेत्रों से हृदय का आनन्द छलककर बाहर बह जाता है पैर लड़खड़ाने लगते है। मुस्कान मानो प्राणों के लिए ताल और लय का काम करती है, जिससे पैरों में थिरकन और प्राणों में गुंज स्वतः पैदा हो जाती है। मन जब विषय-शून्य हो जाता है, तब वे समूचे हृदय-अजिर में उतर आते हैं। पूर्ण परमानन्द—आनन्दानुगत समाधि हो जाती है।

मन्द स्मित का ध्यान साधना के विघ्नों को दूर करने के लिए अमोघ औषधि है। कर्मकाण्ड में प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में एक श्लोक बोला जाता है :—

शुक्लाम्बरधरं देवं,
शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्,
सर्व विघ्नोपशान्तये॥

इसका अभिप्राय यह है कि सभी विघ्नों की शान्ति के लिए श्वेत वस्त्र धारण करने वाले सर्व व्यापक, प्रकाश रूप चन्द्रमा की तरह धवल तथा प्रकाश कान्ति वाले प्रसन्न मुख चतुर्भुज रूप भगवान विष्णु का ध्यान करना चाहिए। इस श्लोक में 'प्रसन्न वदनं

ध्यायेत्' यह पद साधना के रहस्य को छिपाये हुए है। प्रसन्नवदन का ध्यान साधक की सारी विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला है। इस प्रकार के ध्यान से भयङ्कर ताप तथा संताप तत्क्षण दूर हो जाते हैं, जिससे साधक का मन अग्नितत्त्व से निकलकर वायु में लीन होते-होते आकाशतत्त्व में लय हो जाता है। शून्य तथा अशून्य से विलक्षण परमतत्त्व में लय होने पर काल की सीमा के परे जाकर मुक्ति तथा कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

श्री सद्गुरु-तत्त्व तथा भगवत्तत्त्व स्वरूपतः एक ही वस्तु है। साधक जब षट्-चक्र भेदन करता हुआ गुरु-पथ पर पहुँचता है तो वहां पर श्री गुरुदेवजी की मन्द-मन्द मुस्कान का ध्यान करने से साधना का मार्ग खुलता है तथा रुद्र-ग्रन्थि का भेदन होता है। स्कन्द पुराण में इस प्रक्रिया का संकेत मिलता है—

हृदम्बुजे कर्णिक मध्यसंस्थे,
सिंहासने संस्थित दिव्य मूर्तिम्।
ध्यायेद् गुरुं चन्द्रकला प्रकाशम्,
चित्पुस्तकाभीष्ट वरं दधानम्॥
श्वेताम्बरं श्वेत विलेप पुष्पम्,
मुक्ता विभूषं मुदितं द्विनेत्रम्।
वामांकपीठ स्थित दिव्य शक्तिम्,
मन्दस्मितं सान्द्र कृपानिधानम्॥
आनन्दमानन्द करं प्रसन्नं,
ज्ञान स्वरूपं निज बोधयुक्तम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोग वैद्यं,
श्रीमद् गुरुं नित्यमहं नमामि॥

—स्कन्द पुराण

अर्थात् हृदय-कमल की कर्णिका के बीच में (सुषुम्ना के मध्य) सिंहासन में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के सदृश अवदात दिव्यमूर्ति श्रीगुरुदेव के प्रसन्नवदन ज्ञान तथा अभयवर देने वाली मुद्रा का ध्यान करना चाहिए। श्वेत वस्त्र धारण किये हुए, श्वेत पुष्पों तथा श्वेत चंदन का लेप किये हुए मुक्ताओं की माला से विभूषित प्रसन्न मुख से दोनों नेत्रों से प्रसन्नता टपकती हो—ऐसा भाव कर करुण भरी कृपा से भरी हुई मन्द मुस्कान तथा उनके वाम भाग में दिव्यशक्ति का ध्यान करने से आनन्द ज्ञान तथा आत्म-स्थिति प्राप्त हो जाती है। संस्कार के जन्म-मरण को दूर करने वाली औषधि उनकी प्रसन्नता है, इसीलिए बड़े-बड़े योगी, मुनि उनकी पूजा किया करते हैं। हृदय में उनके इस स्वरूप की धारणा कर उनके चरणों में भावाविभूत होकर नमन करता रहे। ऐसा करते करते ध्यान की उच्च स्थिति सहज ही उपलब्ध हो जायगी, जिसका फल बताया गया है—

एवं विधं गुरुं ध्यात्वा,
ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम्।

—स्कन्द पुराण

अर्थात् श्री गुरुदेव का इस प्रकार ध्यान

करने से एकात्मानुभूति रूप नित्य नित्या-विवेकदायी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वह ज्ञान ही मोक्ष का दाता बन जाता है। 'ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।' योगीन्द्र गोरक्षनाथ प्राणजय के लिए गुरुदेव के प्रसन्न-मुख का ध्यान करने का आदेश देते हैं—

**गुरुवक्त्र प्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः।**

—योगबीजम्

इस प्रकार ध्यानपरायण होकर गुरुदेव की सेवासे उनकी कृपा को जो प्राप्त कर लेता है, उसके प्राण चित्त में लीन हो जाते हैं तथा चित्त निश्चल तत्व में लीन हो जाता है। ऐसा होने पर योगी जितेन्द्रिय तथा निर्विकार स्थिति को प्राप्त कर सुखी हो जाता है। जो मूर्ख तथा बुद्धि पर जरूरत से ज्यादा भरोसा इस गुरुतत्त्व की निन्दा करते रहते हैं, वे इस मार्ग में प्रवेश ही नहीं कर पाते। सिद्धमार्ग का वर्णन करते हुए योगीन्द्र श्री गोरक्षनाथ महाराज इसी सिद्धान्त का संकेत करते हैं—

**गुरु प्रसादान्मरुदेव साधितः,**
**तेनैव चित्तं पवनेन साधितम्।**
**स एव योगी सः जितेन्द्रयः सुखी,**
**मूढा न जानन्ति कुतर्कवादिनः॥**

( वही १२७ )

जब तक इस सिद्धयोग के मार्गसे साधक नहीं चलता तब तक न तो शास्त्रज्ञान सहायक हो सकता है और न चित्त का निरोध, प्राणों का निरोध और आत्म-साक्षात्कार तथा मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इन सबके मूलमें अनादि-सिद्ध परम्परा से प्राप्त श्री सद्गुरु की प्रसन्नता ही मुख्य है। यह रहस्य अत्यन्त गोपनीय है, किन्तु जैसे जौहरी हीरे, जवाहरात तिजोरी में छिपा कर गुप्त रूप से रखता है, परन्तु यदि कोई उनको खरीदने की इच्छा से आ जाय तो गुप्त वस्तुको भी वह प्रकट कर देता है। इसी भावना से इस मार्ग के साधकों के लाभार्थ इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया है यह कोई भावुकता या अन्ध-विश्वास अथवा अन्ध-श्रद्धा की बात नहीं है। शस्त्रों से तथा इस मार्ग में आगे बढ़े हुये साधकों के अनुभव से भी यह बात प्रमाणित है। श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर इस रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

एक बार भगवान के प्रिय सखा उद्धव जो ने भगवान् से प्रश्न किया कि—हे कमलनयन श्यामसुन्दर! आप यह कहते हैं कि—

**विषयान् ध्यायतश्चित्त,**
**विषयेषु विषज्जते।**
**मामनुस्मरतश्चित्त**
**मय्येव प्रविलीयते॥**

( भागवत ११/१४/२७)

जो पुरुष विषयों का चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयाकार बनकर विषयों में फँस जाता है और जो भगवान का चिन्तन

करता है उसका चित्त भगवान में ही लीन हो जाता है, जिससे उसे भगवान में नित्य रहने वाली सिद्धियां, शान्ति, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सहज प्राप्त हो जाती हैं। हे प्रभो! कृपा कर यह भी तो बताइये कि आपको पाने की इच्छा करने वाला आपको किस प्रकार प्राप्त करे। आपके किस रूप का और किस भाव से कैसे ध्यान करे?

उद्धव जी के आर्तभाव से पूछे गये प्रश्न को सुनकर भगवान के हृदय का दया भाव फूटकर ज्ञान के रूप में बहने लगा। आर्तभाव से जब कोई कुछ जानना चाहता है तो ज्ञानीजन उसके आगे गूढ़ रहस्य भी अवश्य प्रकट कर देते हैं—

"गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं।
जो आरत अधिकारी पावहिं॥"

अतः भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने ध्यान योग विधिका सारगर्भित उपदेश इस प्रकार किया:

हे उद्धव! सर्व प्रथम पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन या सिद्धासन पर रीढ़ की हड्डी को सीधा रखकर वक्षःस्थल, ललाट तथा नासिका को उन्नत रख १० अंश के कोण से कम्बल, मृग चर्म या कुशासन पर शान्त भाव से उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठ जाय। दोनों हाथों को अपनी गोद में रख ले तथा अपनी नासिका पर दृष्टि जमा दे। इसके बाद रेचक पूरक तथा कुम्भक तथा पूरक-कुम्भक-रेचक इन अनुलोम विलोम-प्राणायामों से नाड़ी-शोधन करे। प्राणायाम के साथ-साथ धारणा द्वारा प्रत्याहार विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तर्मुखी करने का अभ्यास करे। इसके बाद हृदय में कमलनाल के पतले रेशेके समान घण्टानाद के रूप में ॐकार का चिन्तन करता हुआ उसी नाद के सहारे मन को ऊपर ले जाय। इस प्रकार अनवरत नाद में मन को लय करता रहे। इस तरह प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ॐकार सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम का अभ्यास करे। ऐसा अभ्यास करने से एक मास में भक्त अपने प्राणों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। जब प्राण-वश हो जायं तब उसे यह धारणा करनी चाहिए कि हृदय एक कमल है, उसकी पंखुड़िया नीचे को मुँह किये स्थित हैं और उसकी नाल ऊपर है। प्राणवायु से उसका मुख खुल गया है और कमल का नीचे से खिलकर ऊपर मुख हो गया है। उस कमल की आठ पंखुड़ियां हैं और उनके बीच में पीली-पीली अत्यन्त कोमल पराग की कणिका है। कणिका पर धारणा द्वारा सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि का उत्तरोत्तर न्यास करना चाहिए। तदनन्तर अग्नि के अन्दर भगवान के मङ्गलकारी रूप का ध्यान करना चाहिए। (वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमंगलम्) स्वरूप का ध्यान इस रूप में इस प्रकार करना चाहिए—

समं प्रशान्तं सुमुखं
दीर्घबाहुं चतुर्भुजम् ।
सुचारु सुन्दरग्रीवं
सुकपोलं शुचिस्मितम् ।।
समान कर्ण विन्यस्त
स्फुरन्मकर कुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं
श्रीवत्स श्रीनिकेतनम् ।।
शङ्ख–चक्र–गदा–पद्म
वन माला विभूषितम् ।
नूपुरै विलसत्पाद
कौस्तुभ प्रभया युतम् ।।
द्युमत् किरीट कटक कटि
सूत्राङ्ग गदा युतम् ।
सर्वाङ्ग सुन्दरं हृद्य
प्रसाद सुमुखेक्षणम् ।।
सुकुमारमभिध्यायेत्
सर्वाङ्गेषु मनोदधत् ।।

अर्थात् भगवान के अवयव सुन्दर तथा सुगठित हैं तथा सुडौल हैं। मुख सुन्दरता की खान ही है, मुख कमल की मुस्कराहट की पवित्र तथा दिव्य छटा चांदनी की तरह सर्वत्र व्याप्त होकर शीतलता और शान्त छिटका रही है। रोम-रोम से समुद्र की तरह गहरी शान्ति टपकती है। आजानुबाहु सुन्दर चार भुजायें हैं। अत्यन्त सुन्दर और मन को हरने वाली उनकी तिरछी गरदन है। मरकत मणि समान स्निग्ध कपोल हैं सम कर्ण युगलों में लोल-लोल मकराकृत कुण्डल लटक रहे हैं। वर्षाकालीन मेघ के समान श्याम वर्ण के शरीर पर पीताम्बर फहरा रहा है। वक्षस्थल पर दांये-बांये श्री वत्स और लक्ष्मी जी के चिह्न सुशोभित हैं। कर कमलों में—शंख-चक्र-गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। वन की तुलसी की माला उनके गले में विभूषित हो रही है। चरणों में नूपुर की मधुर ध्वनि मनोमुग्धकारी है और कौस्तुभ मणि की जगमगाहट से कण्ठ सुशोभित है। माथे पर किरीट (मोर मुकुट) हाथों में कंगन और कटि में करधनी तथा बाजुओं में बाजूबन्द सुशोभित हो रहे हैं। भगवान कहते हैं कि मेरा एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर और हृदय कमल को विकसित करने वाला है तथा मेरी मुख छवि व चितवन सतोगुण उड़ेल कर इतना आनन्द पैदा कर देती है कि हृदय में समाये नहीं समाती। हृदय फाड़कर नेत्रों से अश्रुधारा बनकर मेरा आनन्द बह निकलता है हे उद्धव! मेरे इसी सुकुमार रूप का ध्यान करना चाहिए और एक-एक अंग पर धारणा करते-करते मन को सर्वाङ्गों में लगा देना चाहिए। जब मन भगवान के इस रूप की एक झलक भी देख लेता है तो उसे अपने शरीर का ही होश नहीं रहता, विषयों की तो बात ही क्या

विषय तो शरीर से दूर की वस्तु है। क्या ही अद्भुत रूप है अपना सर्वस्व निछावर कर दें तो भी थोड़ा है।

तेरी सूरत से नहीं मिलती किसी की सूरत।
जहां में हम तेरी तसवीर लिये फिरते हैं।।

उपर्युक्त विधि से ध्यान लगाकर मन के द्वारा इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से खींचकर बुद्धिरूपी सारथी के द्वारा मन को सब ओर से खींचकर भगवान के सगुण साकार रूप में सब प्रकार से लगा दे। जब भगवान के समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों की धारणा पुष्ट हो जाय तब अपने चित्त को सब अङ्गों से खींचकर एकाग्र कर एकही स्थान पर केन्द्रित करे।

यहां भगवान धीरे से रहस्य की बात बता देते हैं –

नान्यानि चिन्तयेद् भूयः
सुस्मितं भावयेन्मुखम्।

एकत्र कर चित्त को कहां लगाया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि विभिन्न अंगों की धारणा तथा उनका ध्यान करने से प्रत्याहार तथा धारणा पुष्ट होकर एकाग्रता प्राप्त होती है। एकाग्रता आ जाने पर अन्य अंगों का ध्यान न कर केवल मन्द मधुर मुस्कान से युक्त भगवान के मुख कमल का ध्यान करे। जब चित्त मुखारविन्द में ठहर जाय तब उसे वहां से हटाकर आकाश में स्थिर कर दे। कालांतर में आकाश का ध्यान भी त्याग दे और भगवान के स्वरूप में निमग्न हो जाय और भगवच्चिन्तन के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे। इस प्रकार समाहित चित्त सभी के आत्मा भगवान में इसी प्रकार आरूढ़ हो जाता है जिस प्रकार एक ज्योति दूसरी से मिलकर एक हो जाती है। लकड़ी जब अग्नि में डाल दी जाती है तो वह लकड़ी अग्निरूप हो जाती है। फिर उस अग्नि में और लकड़ी में कोई भेद नहीं रहता। लकड़ी ही आग है और आग ही लकड़ी है। लकड़ी आग रूप हो गई। उपर्युक्त ढंग से जो योगी ध्यान करता है उसका फल भगवान बताते हैं कि—

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण,
युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यति आशुनिर्वाणं,
द्रव्य ज्ञान क्रिया भ्रमः।।
(वही ४६)

जो योगी अत्यधिक तीव्र संवेग से इस प्रकार के ध्यानयोग में एकनिष्ठ होकर अपने मन को भगवान में लीन कर देता है, उसे चित्त के संयम के बल से जहां-जहां वह संयम करता है, वहां-वहां उसे वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तथा वस्तु की अनेकता, ज्ञान का अहङ्कार तथा साधन क्रियाओं का यथार्थ ज्ञान होकर भ्रम और संशय नष्ट हो जाते हैं, जिससे वह योगी मोक्ष का पथिक

प्रभु के राजभवन का अथिति बन जाता है। ऋद्धियां और सिद्धियां उसकी सेवा करने लगती हैं।

संसार के दुःखों से संतप्त अथवा पित्तजन्य रोगों से दुःखी या मस्तिष्क की गर्मी से मनोरोगी तथा हृदय रोगी व्यक्तियों,को मन्दस्मित ध्यानयोग का अभ्यास कराया जाय तो उनका स्वास्थ्य तथा सन्ताप और शोक शीघ्र नष्ट हो जायगा तथा वे कल्याण मार्ग के पथिक बन जायेंगे। महारास के प्रकरणमें उस वर्णन के पाठ का फलादेश करते हुए श्री शुकदेव जी महाराज ने कहा है कि—

भक्तिं परां भगवति,
प्रतिलभ्य कामं ।
हृद् रोगम् आशु उपहि-
नोति अचिरेण धीरः ॥

भगवान के लीला-रूप का दर्शन अथवा श्रवण करने से भगवान के चरणों में पराभक्ति प्राप्त होती है और शान्त भाव का प्रादुर्भाव होने से व्यक्ति हृदय के रोगों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, मात्सर्य, जलन, ब्लडप्रेशर, हार्टअटैक आदि से शीघ्र छुटकारा पा जाता है।

ईश्वर की मुस्कान केवल उनकी प्रसन्नता की द्योतक ही नहीं है अपितु वह उनकी लीला का एक विलास है, जिसमें वे अपनी माया का तनिक सा पर्दा हटाकर अपना 'अस्ति-भाति-प्रिय' अथवा सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हल्के से दिखलाकर भक्त को आनन्द से ओत-प्रोत कर देते हैं। जैसे जल के ऊपर काई (सिवार) छाई रहती है, जिससे तालाब का जल दृष्टिगोचर नहीं होता। हवा का कोई झोंका जब काई को हटा देता है तो पानी दिखाई पड़ जाता है और उसमें अपना प्रतिबिम्ब भी प्रतीत होने लगता है। प्रभु की मुस्कान से चित्त सतोगुणी होने लगता है—'सत्वं लघुः प्रकाशकम्' के नियमानुसार सतोगुणमें हल्कापन तथा प्रकाश प्रदान करता है। प्रकाश प्राप्त होने पर चित्त बाह्य वृत्ति से आन्तरिक वृत्ति वाला बन जाता है।

प्रभु अपने प्रत्येक अवतार में जब कभी किसी पर कृपा करते हैं तो मुस्करा देते हैं। प्रभु की चितवन में भी गजब की मुस्कान है। रामावतार में वे माता कौशल्या को मुस्कान देखने का अवसर देकर अपनी मुस्कान में ही विराट रूप का साक्षात्कार करा देते हैं। भगवान मनु सतरूपा को दिये गये वचनों के अनुसार अवतार लेना स्वीकार कर लेते हैं। सतरूपा ने वरदान मांगा था कि मुझे आपके अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप का सदा ज्ञान बना रहे। भगवान शिशु के रूप में अवतरित होते ही माता की ओर देखकर मुस्करा दिये। उनकी मुस्कराहट को देखते ही कौशल्या को

उनके दिव्य स्वरूप का ज्ञान हो गया और वह आनन्दमग्न हो गई। गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं—

भये प्रकट कृपाला, दीन-
दयाला, कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मनहारी
अद्भुत रूप विचारी ॥
लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा
निज आयुध भुज चारी।
भूषन वनमाला नयन विशाला
शोभा सिन्धु खरारी ॥

× × ×

उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुस्काना
चरित बहुत विधि कीन्ह चहै।

माता ने उनका मुस्कराना देखकर उनसे कहा कि आपकी मुस्कान के सब अधिकारी नहीं हैं अतः अपनी माया का आश्रय लेकर शिशु-लीला कीजिए बस इतना कहते ही भक्तवत्सल भगवान शिशु बनकर रोने लग गये।

एक बार माँ ने नहला धुला शृंगार कर प्रभु को पालने में लिटा दिया और स्वयं स्नान कर इष्टदेव को नैवेद्य अर्पित करके पकवान बनाने रसोईघर में चली गईं। पाकशाला में माँ देखती है कि भगवान स्वयं भोजन कर रहे हैं। माँ यह देख हड़बड़ाकर पालने के पास गई। वहां माँ क्या देखती है कि श्रीराम जिस तरह वह सुला गई थी, वैसे ही पड़े सो रहे हैं। पाकशाला में जाकर देखती है तो वहां वे भोजन करते दिखाई पड़ते हैं और पालने में देखती है तो सोते हुए। बाह्य-वृत्ति और भीतरी-वृत्ति दोनों में भेद होने से भेद ज्ञान होते ही द्वैत बोध से माँ की व्याकुलता बढ़ जाती है। जहाँ अखण्डता तथा अभेद है वहीं शान्ति और सुख है। जहाँ खण्ड के दर्शन हैं वहाँ भेद ज्ञान होने से मति भ्रम होकर क्रोध होता है या शोक होता है। परशुराम जी को खण्ड-खण्ड चाप देखकर क्रोध हुआ। यहां माता को दुःख होने लगा। प्रभु के दो रूपों को देखकर माँ हक्की-बक्की रह गई—

इहां उहां दुइ बालक देखा।
मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥

जब श्रीराम ने देखा कि माँ मेरी माया से दुःखी हो रही है तो उन्होंने माया का पर्दा हटा दिया—किस तरह ? मुस्कराकर और अपना अखण्ड रूप दिखाकर माँ को आनन्द-मग्न कर दिया—

देखि राम जननी अकुलानी,
प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी।
देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड,
रोम-रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ॥
( बालकाण्ड २०१ )

प्रभु के मुस्कराते ही माया का पर्दा जैसे

ही हटा, मां ने प्रभु के अखण्ड-मण्डलाकार सर्वत्र व्यापक तेज के दर्शन किये।

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन।
बहुगिरि सरित सिन्धु महि कानन॥
देखी माया सब विधि गाढ़ी।
अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावहि जाही।
देखी भगति जो छोरइ ताही॥
तन पुलकित मुख बचन न आवा।
नयन मूँदि चरननि सिरु नावा॥
बिसमयवंत देखि महतारी।
भये बहुरि सिसुरूप खरारी॥

प्रभु की मुस्कान से मां कौशल्या वितर्क विचार और आनन्दानुगत समाधि को प्राप्त कर विवेक-ख्याति की योगिनी बन गई। उन्हें हरक्षण प्रभु स्वरूप का ज्ञान रहने लगा और कभी भी मोह नहीं हुआ। दूसरी ओर महाराज दशरथ को मोह ही रहा। जहां ज्ञान होता है वहां मोह नहीं रह सकता। ज्ञान संप्रज्ञात योग से प्राप्त होता है।

धनुष यज्ञ के पूर्व पुष्प-वाटिका में प्रभु के माधुर्य रूप के दर्शन जिस जिसको करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, वही अपना तन-मन दे बैठता है और परवश हो जाता है —

थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें॥

सीताजी की सखियां श्यामसुन्दर के रूप को देखकर निमेषोन्मेष रहित दृष्टि प्राप्त शाम्भवी मुद्रा की सिद्ध योगिनियां बन गई। उनके हास-विलास के देखते ही मन अपनी चञ्चलता छोड़ देता है। मन बिना मोल के बिक जाता है।

'हास बिलास लेत मनु मोला।'

भगवान कहते हैं—वैसे तुम सारे संसार की सम्पत्ति दे डालो, तो भी हमें नहीं खरीद सकते हो। किन्तु कभी-कभी हम मुफ्त भी बिकने को तैयार हो जाते हैं—

'हम भक्तन हाथ बिकाने।'
'वैसे तो वह बेश कीमती है,
कीमत क्या देगा कोई।
अगर कोई खरीदार हो तो,
मुफ्त भी बिक जाते हैं॥'

प्रेम के बाजार में वे नीलाम होने को तैयार हैं, खरीदने वाला कोई-कोई होता है। ज्यादातर लोग भावताव कर ही चलते बनते हैं। खरीदने की गर्ज से प्रेम की हाट में कोई दीवाना ही आ पाता है। सीताजी ने देखा कि उनकी सखियां रूप के सागर में अपनी सुध-बुध खो बैठी हैं, तो उन्होंने भी श्रीराम की मुख छबि को हृदय में बन्द कर लिया।

भक्ति के मर्म को जानने वाले निष्काम कर्म-योगी केवट ने प्रभु के चरण धोने का अत्यधिक आग्रह किया—

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

बरु तीर मारहुँ लखन पै,
जब लगि न पायँ पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास,
नाथ कृपालु पारु उतारिहौं॥

जब भगवान ने केवट के प्रेम लपेटे अटपटे वचन सुने तो प्रेम के आगे बिक गये और अपनी मुस्कराहट का संकेत देकर भक्त के हृदय के मायाजनित भेद का पर्दा उठा दिया।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन, चितइ जानकी लखन तन॥

कृपासिन्धु बोले मुसुकाई।
सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥

कौतुकी प्रभु जानकी तथा लक्ष्मण—जो मूर्तिमान माया तथा वैराग्य के रूप हैं—की ओर देखकर तो हँसे, मानो हँसकर उन्होंने कहा, हे जानकी! और हे लक्ष्मण! नित्य समीप रहते हुए भी तुम मेरे निज स्वरूप को नहीं जानते हो, जिसे तुम निपट गँवार समझते हो, वह कितना बड़ा ज्ञानी है, जो आत्म-विश्वास से कहता है—

"कहइ तुम्हार मरम मैं जाना।"
'ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्।' --गीता

ज्ञानी भक्त प्रभु को अत्यधिक प्यारा है। अतः केवट की ओर देखकर हँसते नहीं हैं, बल्कि मुस्कराते हैं। वे श्रीराम के उदर में जाकर उनकी माया का विस्तार देख लेते हैं—

मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।
बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥
राम उदर देखउ जग नाना।
देखत नयन न जाइ बखाना॥

भगवान का दिव्य रूप मन को मोह लेता है तो संसार का मोह समाप्त हो जाता है। त्रैलोक का समग्र सौन्दर्य उनके एक-एक अंग के सौन्दर्य के आगे फीका है। उनका रूप इतना सुन्दर है कि वे उस पर खुद फिदा होकर विभोर हो नाचने लगते हैं, फिर जीव क्यों न दीवाना हो जाय। वे तो सर्वांग सुन्दर हैं ही, उनका प्रतिबिम्ब ( यह संसार ) भी कितना सुन्दर है? उसे देखकर वे स्वयं नाचने लगते हैं—

रूप रासि नृप अजिर बिहारी।
नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी॥

-ॐ-

## —❀ पानी केरा बुदबुदा ❀—

रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥

—सन्त कबीर

स्मृति के मोती—

# 卐 हल्दी की गांठ

❀ डा० श्री विजयसिंह, गोरखपुर

महासिद्धों के लोक-चरित्र को समझने का सामर्थ्य हर किसी में नहीं होता। उनके गूढ़ स्वरूप को अन्तरदृष्टि सम्पन्न सिद्ध पुरुष ही जान पाते हैं। योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण को, तत्ववेत्ता महर्षि व्यासजी, श्री नारदजी, श्री शुकदेव जी, महात्मा भीष्म जी तथा उस काल के दिव्य-चक्षु-सम्पन्न लोग ही केवल परमात्मा के रूप में जानते थे। सर्व-साधारण सत्व प्रधान लोग इन्हीं महापुरुषों की वाणी के रहस्य को प्रमाण मानकर श्रीकृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धा-भाव रखकर भव-भय से निस्तार पाते थे। परन्तु जो रज-प्रधान तम-प्रधान लोग थे, वे किंचित् भी श्रीकृष्ण को लोकोत्तर पुरुष मानने को तैयार नहीं थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उन परम परमेश्वर के स्वरूप का बोध मात्र तत्त्वदर्शी आचार्यों के संग से ही होना सम्भव है। सिद्धों के आप्त वचन, शास्त्रों के प्रामाणिक कथन अथवा स्वाध्याय की सघनता से उत्पन्न आभ्यन्तरिक अनुभूतियाँ ही महा योगेश्वर के चरित्र के रहस्य को उजागर कर सकी हैं।

दक्षिण देश के एक राजपरिवार के व्यक्ति जो आनन्दकन्द परम कल्याणधन श्री महाप्रभु जी के बालक थे, एक बार शृंगेरी के जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी, जो कि तपोनिष्ठ अन्तरदृष्टा महापुरुष थे, उनसे उन्होंने योगेश्वर श्री रामलाल महाप्रभु जी के छवि के सन्दर्भ में प्रश्न पूछा। उनका प्रश्न था, यह हमारे दादा गुरुदेव का स्वरूप है, जो हिमालय के तपोनिष्ठ अलौकिक महापुरुष बतलाये जाते हैं। भगवान ! आप इनके स्वरूप को देखकर इस छवि में निहित योग सामर्थ्य तथा इनके बारे में हमें सचसच बतलाने की कृपा करें। श्री शंकराचार्य जी बड़ी गम्भीरता के साथ उस राजकुंवर से श्री प्रभुजी के स्वरूप को लेकर त्राटक विधिसे कुछ पल देखते रहे, रोमांचित होते रहे। भाव-विभोर होकर वे बोले—"नारायणस्तु स्वयं-नारायणस्तु स्वयं" अर्थात् नारायण स्वयं। साधारण हृदय को इस गूढ़ मन्त्रमय वाक्य से सुबोध न प्राप्त हो सका। पुनः अपने संशय को प्रकट करते हुए उस राजकुंवर ने कहा—'भगवन् ! इस चित्र में सामर्थ्य क्या है ? कैसे मात्र इस चित्र के पूजन से लोगों में योग की शक्ति संचरित हो उठती है। लोगों को स्वतः मैं ध्यानस्थ होते देखता हूँ और भी विलक्षण बातें सुनता हूँ।' ऐसे रहस्य प्रश्न को सुनकर आचार्य श्री विष्णु मुख से बोले—देखो ! जिनकी तुम बात पूछते हो, उनके सामर्थ्य के बारे में तो ब्रह्मदेवों को भी ज्ञान नहीं है। हां ! इस छवि की सामर्थ्य यह है कि यह एक साथ हजारों व्यक्ति को मुक्ति प्रदान कर सकती है। यह घटना श्रीगुरुदेव भगवान् के मुख से प्रयागराज की पावन भूमि जहां सुरसरि-यमुना संगम है, बहुत वर्ष पहले सुनने को मिली थी। माघके महीने में विश्व के

कोने-कोने से दर्शक, मुमुक्षु, सिद्ध, सन्त, सद्-गृहस्थ तथा हर प्रकार के व्यक्ति यहाँ समायोजित होते हैं।

शीतकाल की ठिठुरी सूर्यरश्मियां इतस्ततः गंगा यमुना के तटवर्ती भागों में बसे मेले को प्रकाशित किये हुए थीं। श्री सद्गुरुदेव जी फूस-टेण्ट के बने आश्रम में अपने बाल-गोपालों के साथ बैठे थे। उसी समय एक गुरुभाई मेले में घूम घामकर लौटे। वे श्री सद्गुरु चरणों में प्रणाम करते हुए अपने गमछे से बने थैले से फल सेब, सूखे मेवे, तल मखाने का ढेर अर्पित करते रहे। विनोदप्रिय भगवान श्री ने पूछा—यह सब कहाँ से लाया से ले आया? मेले में कहां-कहाँ घूम आया। भाई ने कहा—प्रभो! बड़ा दूर निकल गया था आज। उधर सातवें पुल की तरफ वहाँ योगिराज देवरहवा बाबा का मचान श्री गंगाजी के जल में लगा है। वे बताने लगे—प्रभु! वहां जब पहुँचा, देखा भीड़ रेत में बैठी रामधुनि लगा रही है। मेरे मन में प्रयोजन था—श्री देवरहवा बाबा के दर्शन का। वे मचान के अन्दर थे। जब मैं मचान की ओर बढ़ने लगा तो वहां के भक्तगणों ने हमें वर्जित किया तथा बोले, उधर बैठकर रामधुनि लगाओ, अभी बाबा देर में दर्शन देंगे। भाई ने कहा, हम तो अभी दर्शन करेंगे और उन्होंने बड़े जोर से दो-तीन बार महाप्रभु श्री रामलाल की जय-ध्वनि लगाई। अद्भुत झोंपड़े में से सभ्रम परम पूजनीय श्री देवरहवा बाबा बाहर मंच पर निकल आये और उन्होंने कहा—बच्चा! कौन महाप्रभु रामलाल जी की ध्वनि लगाता है, उसे मेरे पास आने दो। भाई जी को योगिराज जी ने स्नेह वचन कहे—यह जानकर कि वह आनन्द-कन्द श्री सद्गुरुदेव जी के बालक हैं? वे बार-बार हर्षित होकर प्रसाद देते रहे। चलते समय योगिराज जी ने परिच्छिन्न परमात्मा की सेवा में अपने कुछ भेंट ले जाकर देने को भाई जी को दिया।

इस घटना के बाद हमारे कुछ सहपाठी मित्रों ने रामनगर (वाराणसी) में उन दिनों गंगापार किले के पास श्री देवरहवा बाबा का दर्शन किया। एक भाई जिनके हृदय में श्री महाप्रभुजी के चरण कमलों के प्रति अगाध प्रेम है, ने बाबा के लौकिक प्रश्न पूछने पर—बच्चा! कहाँ से आये हो? कहा—हम सभी महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के बालक हैं। श्री महाप्रभु जी के स्वरूप बोध-सम्पन्न तत्त्वदर्शी योगिराज श्री देवरहवा बाबा भाव-विभोर हो उठे। कबीर सी अटपटी वाणी में बोले—बच्चा! तू सब लहर में है, लहर में है—लहर से ही सब कुछ हो जायेगा। उन भाई को इतनी वार्ता से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने पुनः प्रश्न किया—भगवन्! हम उन परम करुणा-निकेतन श्री महाप्रभुजी के बारे में सुनना चाहते हैं। बाबा नेत्र बन्द कर पल भर बाद बोले - बच्चा! उनके बारे में कौन क्या कह सकता है? जितनी विश्व की दुकानें हैं, उनमें हल्दी की गांठ उन्हीं की है। इतना कहते हुए भाव-तरङ्गित हो बार बार प्रसाद बांटते हुए बोले—"लहर में रहो, लहर में रहो।" लहर से ही सब हो जायेगा।

卐*卐

# साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

( श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा )

**यो**गाचार्य श्री तपोनिधि जी का आश्रम है। यह देखो! कितनी सुन्दर योगासनों की क्लासें चल रही हैं? ओह! यहां के ब्रह्मचारियों के योगासन कितने सुन्दर बनते हैं। यह कौन ब्रह्मचारी है जो इतनी देर से मयूर आसन लगाये हुए मोर की आकृति में खड़ा दिखलायी दे रहा है। यह देखो! शीर्षासन के अभ्यास करने वाले ब्रह्मचारी क्रमशः श्रेणीबद्ध शीर्षासन लगाये हुए हैं। इधर देखो! यह षटकर्म करने वालों की श्रेणी है, जहां नेति, धोति, गजकरनी विभिन्न प्रकार की यौगिक क्रियाएँ करायी जा रही हैं। उधर प्राणायाम के अभ्यासी प्राणायाम के अभ्यास में संलग्न हैं। शरीरों में कम्प दिखलाई दे रहा है। उधर दार्दुरी वृत्ति हो रही है कुछ लोगों के आसन दार्दुरी वृत्ति के बाद उत्थान पर हैं। समीप ही योग-विद्यालय चल रहा है। यौगिक शिक्षा प्रदान करने वाले योगी अध्यापक ब्रह्मचारियों का शिक्षण कर रहे हैं। आचार्य तपोनिधि जी की पर्णकुटीर के सामने जिज्ञासु-श्रोताओं की भीड़ इकट्ठी हो गई है। योगाचार्य के दर्शनों के लिए लोग लालायित हो रहे हैं। मध्याह्नोत्तर का समय है, जिज्ञासुओं की भीड़ को देख करके श्री योगाचार्य जी ने अपना भाषण प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा, योग के जिज्ञासु पवित्र आत्माओ! इधर-उधर के वाद-विवादों में मत पड़ो। सांख्य शास्त्र का सिद्धान्त और योग शास्त्र का सिद्धान्त दोनों एक ही वस्तु हैं। जो व्यक्ति निष्काम कर्मयोग की साधना में लगा रहता है और जिसके मन में किसी भी प्रकार की इच्छा, राग द्वेष नहीं रहे हैं वही यथार्थ में संन्यासी है और वही अपने स्वरूप में अवस्थित योगी है। जिसको संन्यास कहा जाता है उसी को तुम योग जानो। जो व्यक्ति अपनी कामनाओं को नहीं छोड़ सकता, वह योगी भी नहीं बन सकता। केवल मात्र बात यह है जो इतनी ही है कि—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

बात इतनी है कि जो लोग योगारूढ़ होना चाहते हैं, उनको नियमित अभ्यास आदि कर्म करना ही पड़ता है, किन्तु शनैः शनैः अभ्यास

करते-करते जब वे लोग समाधिस्थ हो जाते हैं तो अपने आप ही शाश्वत शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः तो बात यही है कि—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे-
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।
विहाय कामान्यः सर्वान्,
पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः,
स शान्तिमधिगच्छति ।।

अर्थात् जिस प्रकार सब नदी नाले समुद्र में जाकर विलीन हो जाते हैं और अपने रूप को खो देते हैं, इसी प्रकार जिस व्यक्ति की सब कामनायें उसके अभ्यास स्वरूप मन ही मन में समाप्त हो जाती हैं वही व्यक्ति शांति को प्राप्त हो जाता है। जो व्यक्ति सभी कामनाओं को छोड़कर निर्मम और निरहंकार होकर समाधि में लीन रहता है, वही व्यक्ति वस्तुतः शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है, किन्तु वस्तुतः बात यह है—

न कर्मणामनारम्भान्नै-
ष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव,
सिद्धिं समधिगच्छति ।।

न हि कश्चित्क्षणमपि,
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य,
आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा,
मिथ्याचारः स उच्यते ।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोग-
मसक्तः स विशिष्यते ।।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपने नियमित अभ्यासादि के क्रम को नियमित कर्म के रूप में नहीं करता है वह निष्काम कर्मयोग को प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि जगत गतिशील है, इसमें जन्म लेने वाला कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। त्रिगुणात्मिका प्रकृति मनुष्य को कर्म में लगा ही देती है। कदाचित् कोई भी व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके बैठ जाता है और मन से इन्द्रियार्थों का चिन्तन करता रहता है, वह दम्भी कहलाता है। इसलिये उत्कृष्ट बात तो यही है कि पहले मन के द्वारा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण करके कर्मयोग का अभ्यास करते हुए भी जो लोग कर्मासक्ति को छोड़

देतेहैं उनका ही दर्जा ऊँचा है। इसके अतिरिक्त जो लोग केवल मात्र बाह्य वेष धारण करके कामनाओं के पीछे लगे रहते हैं एवं अपने आपको इन्द्रियार्थों में फँसाये रहते हैं वे लोग न ही संन्यासी हैं और न ही योगी हैं। यथार्थ बात तो यही है कि —

संन्यासस्तु महाबाहो,
दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म,
नचिरेणाधि गच्छति ॥

अर्थात् बिना योग के संन्यास प्राप्त किया ही नहीं जा सकता और योग युक्त मुनि ब्रह्म को बहुत जल्दी पा जाता है। इसलिये प्रत्येक जिज्ञासु को आत्म शान्ति प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करना ही चाहिए। इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिए कि —

संकल्प प्रभवान्कामां-
स्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मन सैवेन्द्रियग्रामं,
विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैः रुपरमेद्-
बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्म संस्थं मनः कृत्वा,
न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति,
मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदा-
त्मन्येव वशं नयेत्॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं,
योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं,
ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं,
योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श-
मत्यन्तं सुखमश्नुते॥

अर्थात् जो साधक संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं को बिल्कुल ही छोड़ देता है और मनसे इन्द्रिय समूह पर नियन्त्रण कर लेता है वह उत्कृष्ट है। धीरे-धीरे धैर्य के साथ बुद्धि पर नियन्त्रण करके योगी को चाहिए कि वह अपने आपको आत्म-स्वरूप में स्थित हो जावे और किसी भी प्रकार का चिन्तन मन में न आने दे। हमारा यह चंचल मन जहां भी इधर-उधर भागे, वहां-वहां से लौटा करके अपने आत्म स्वरूप में ही नियन्त्रित कर दे। जो योगी इस प्रकार अपने मन को बिल्कुल शान्त कर लेता है एवं रजोगुण से पैदा होने वाली चंचलताओं को बिल्कुल छोड़ देता है वह सर्वथा पापरहित हो करके उत्तम परम सुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ योगी ब्रह्मानन्दरूप, परम सुख को प्राप्त होता है। एवं वह योगी—

सर्वभूतस्थ मात्मानं,
सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा,
सर्वत्र समदर्शनः ॥

अर्थात् ऐसा योगी प्राणीमात्र के अन्दर अपने आपको अवस्थित देखता है और प्राणी मात्र को अपने अन्दर देखता है। इसलिए योग के जिज्ञासु तुम सभी को योगाभ्यास में रत हो जाना चाहिए क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण का यह आदेश है कि योगी का दर्जा कर्मकाण्डियों से, ज्ञानियों से सबसे ही उत्कृष्ट है और—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेष यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।

अर्थात् वेद में, यज्ञ में एवं तप में जो पुण्य बल कहा है, उसका सबका उल्लङ्घन करके योगी आदि परम स्थान को प्राप्त हुआ करता है। इसलिये इस संसार में जन्म लेने वाले हर व्यक्ति को इधर-उधर की भ्रान्तियों को छोड़ करके योग-परायण बन जाना चाहिये। ताकि वह शाश्वत शान्तिको प्राप्त कर सके। योगमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता की बात तो यह है कि यदि एक व्यक्ति योगमें जिज्ञासा रखता है और वह योगी बनने की इच्छा रखता है, वह भी कर्मकाण्ड के दायरे से जिज्ञासा मात्र से ही ऊंचा उठ जाता है। इस लिये प्रिय साधक वृन्द हमारी योग विद्या ही परम श्रेष्ठ है। क्योंकि इसके जान लेने पर सब कुछ जान लेता है।

श्री योगाचार्यजी के उपदेश सुनकर सुनने वाले समग्र श्रोतागण ने आकाश को जय-ध्वनियोंसे गुञ्जित कर दिया। योगाचार्य तपोनिधि की जय, योग-भास्कर की जय, आदि आदि जय ध्वनियों से आकाश, निनादित हो उठा। जय-ध्वनियों के बाद वातावरण शान्त हो जाने पर एक जिज्ञासु खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर उसने प्रार्थना की कि हे गुरुदेव! आपने योग सिद्धान्तों की बहुत बड़ाई की, वह सुन करके हमारे मन में बहुत ही उत्साह बढ़ा और मन में यह पूर्ण निश्चय किया है कि हम लोग योगाभ्यास ही करेंगे। किन्तु हे गुरुदेव ! कृपा करके यह तो समझाइये कि वस्तुतः योग कहते किसको है और योग शब्द का वस्तुतः अर्थ क्या है ?

उत्तर—हे वत्स ! तुम्हारे विचार बहुत ही अच्छे हैं। एवं तुम्हारा प्रश्न भी बिल्कुल ठीक है। हम यही देखना चाहते थे कि इतने समुदाय में यथार्थ में किसी के मन में योग-पिपासा है भी या नहीं। हे पुत्र ! देखो—योग शब्द इतना व्यापक व महत्वशाली है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने उसको अपने हृदय से अप-

नाया है। भक्ति-योग, ज्ञान-योग, राज-योग, लय-योग, हठ-योग, शून्य-योग, इत्यादि ये सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो किन्तु "मुण्डे, मुण्डे मतिभिन्ना" के नियमानुसार हरेक व्यक्ति ने इसको अपनी मतिके अनुसार प्रयोग किया है। जो लोग हृदय प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना, वंदना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति के लिए संलग्न हैं। उन्होंने इसको भक्ति-योग तथा जो लोग ज्ञान निष्ठा प्रधान हैं वे महावाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील हैं, उन्होंने ज्ञानयोगसे इसी प्रकार से जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि से, निष्कामभाव से कर्म करते हुए, कर्म-बन्धन से छूटकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं उन्होंने इसे कर्मयोग के नाम से अपनाया। इसके अतिरिक्त योग के व्यापक प्रभाव और महानता को देख करके कुछ दम्भी लोगों ने भी इस शब्द को अपना कर यक्षिणी, पिशाचिनी आदि छोटी-छोटी तामस राजस शक्तियों की आराधना कर सिद्धियों को पाकर संसार के भोले-भाले प्राणियों को चमत्कार में डालकर अपनी दाम्भिक पूजा कराई और अपनेको योगी सिद्ध किया। इसके अतिरिक्त जिन्होंने हठ योग के कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया, उन्होंने योग आश्रम कायम कर लिये और केवल मात्र नेति-धौति आदि षट्कर्म व आसन बन्ध मुद्राओं के द्वारा शारीरिक साधनायें ही उन लोगों का परम लक्ष्य बन गया। इसी प्रकार से बिना अष्टांग योगकी साधना के ही किन्हीं लोगों ने भू-गर्भ, जलगर्भ आदि समाधियाँ लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया। यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझने से या समझकर भी उसकी लापरवाही के करने कारण हुआ।

वस्तुतः ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाय तो योग शब्द का अर्थ है, मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज धातु से सन्धानाय शब्द का प्रयोग होता है। जिसका अर्थ है मिलना। युज् समाधौ से योग का अर्थ है समाधि। योगाचार्य भगवान श्री पतञ्जलि जी ने "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" कह करके योग शब्द की अभिव्यक्ति की। निरोध शब्द का अर्थ हमारी शास्त्रीय परिभाषा में निरोध—समाधि से व इसी प्रकार योग शब्द का अर्थ योग-समाधि आदि वचनों से समाधि ही सिद्ध होता है। समाधि शब्द का अर्थ उपनिषदों में समाधि समतावस्था जीवात्मन-परमात्मनः से जीवात्मा व परमात्मा की समतावस्था का नाम ही है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! आपने उपनिषदों के

सिद्धान्तानुसार जो योग की परिभाषा बताई वह बिल्कुल ठीक है, किन्तु आपके ही मुखारविन्द से हमने सुना है कि योगाचार्य श्री पतंजलि जी महाराज चित्तवृत्ति निरोध को योग बतलाते हैं। इनमें से हे गुरुदेव कौनसी बात सत्य है ? कृपाकर समझा दीजिये।

उत्तर—हे पुत्र ! तुम्हारा प्रश्न ठीक है। भगवान् पतंजलिजी महाराज ने 'योगः चित्त-वृत्ति निरोधः' कह करके ही योगकी परिभाषा की है। चित्तवृत्ति निरोध शब्द का अर्थ है चित्तवृत्तियों का नितराम् विरोध अर्थात् चित्तवृत्तियों का समूलोन्मूलन। 'योगाश्चित्त-वृत्ति निरोधः'। इस सूत्र में केवलमात्र चित्त-वृत्ति निरोध को योग कहा है न कि 'सर्व चित्तवृत्ति निरोधः को योग कहा है, क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है। इस लिए योग की संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग शब्द वाच्य है। इसी कारण से 'वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः कह करके संप्रज्ञात योग व 'विराम-प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः' कह करके असंप्रज्ञात योग का कथन किया है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! मैं आपके इन कठिन शब्दों को ठीक प्रकार से समझ नहीं पाया कि असम्प्रज्ञात का क्या अर्थ है एवं असम्प्रज्ञात किसको कहते हैं ? कृपाकर भली प्रकार से समझाकर मुझे संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात शब्दों का अर्थ और इन समाधियों का रूपक समझा दीजिये। ताकि मैं इसको भली प्रकार समझ करके अभ्यास कर सकूँ व अपने जीवन को इस अनमोल योगनिधि को पाकर कृतकृत्य बना सकूँ।

उत्तर—हे पुत्र ! ठीक है, योग की इन दोनों समाधियों को तुम्हारा समझ लेना ही ठीक है तभी तुम उन्नति कर सकोगे देखो ! संप्रज्ञात समाधि एवं असंप्रज्ञात समाधि इन दोनों समाधियों को एकाग्रावस्था और निरोधावस्था के रूप में समझाया गया है। एकाग्रावस्था उसको कहते हैं, जिसमें योगी का मन धारणा के बल से इकट्ठा होकर अन्तर जगत के दृश्यों को देखने लगता है और उन दृश्यों को देख करके बाह्य जगत को बिल्कुल-बिल्कुल भूल जाया करता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! दृश्य तो नजारे को कहते हैं। बाह्य और अभ्यान्तर से आपका क्या अभिप्राय ? मैं इस बात को भली प्रकार से समझ नहीं पाया हूँ, कृपा करके मुझे समझा दीजिये कि बाह्य और अभ्यान्तर दृश्य से आपका क्या अभिप्राय है ? अभी तक तो मैं इस दृष्टि-पथ में आने वाले बाह्य दृश्य को ही मैं दृश्य समझता था। क्या कोई आभ्यन्तर दृश्य भी होता है ? हमें तो आंख, नाक, कान आदि बन्द करने पर कुछ भी नहीं दीखता। कृपाकर मुझे भली प्रकार से समझाइये कि अभ्यान्तर दृश्य क्या होता है ?

उत्तर—हे पुत्र ! देखो आभ्यान्तर दृश्य तुम समझ नहीं पाये हो, हम अपनी आँखों से जिस प्रकार से बाहर के नजारे देखते है रंग, नाच, खेल कूद देखते हैं और कानोंसे बड़े-बड़े सुरीले राग नृत्य आदि की ध्वनियां सुनते हैं एवं जिह्वा से बड़े-बड़े रसीले पदार्थ खाते है एवं विविध प्रकार के स्वाद लेते हैं। नासिका से बड़ी-बड़ी दिव्य सुगन्ध सूंघते हैं और चमड़ी से बड़े-बड़े स्पर्श करते हैं, आलिङ्गन करते हैं, आशीर्वाद देते है एवं जितने भी पंच महाभूतात्मक एवं त्रिगुणात्मक एवं गुण प्रवृत्तियों को बढ़ाने वाली इन्द्रियों से देखे जाने वाले नजारे हैं वे ही सब दृश्य दो भागों में बँट जाते हैं—अन्तर और बाह्य। एक तो वह जो इन्द्रियों के भीतरी भाग से देखा जा सकता है। दूसरा वह आमतौर पर अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा देखते ही रहते हैं।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! यह सब नजारे तो हम लोग देख ही रहे है, फिर इनको बहिरंग रूप से देखने से क्या प्रयोजन ?

उत्तर—हे पुत्र ! देखो ऐसी बात नहीं है, वे दृश्य भोग भी देता है और अपवर्ग भी देता है। पढ़ो भगवान पतंजलिदेव का यह सूत्र—

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।**

अर्थात् प्रकाश क्रिया स्थिति से एवं पंचमहाभूतात्मक और इन्द्रियात्मक ये नजारा मनुष्य को भोग और अपवर्ग दोनों देता है। बाह्य दृष्टि से देखा हुआ, सुना हुआ, स्पर्श किया हुआ, गन्ध ग्रहण किया हुआ और रस ग्रहण किया हुआ, यह भोग का दाता है और यदि इसी दृष्टि से नजारे को इन्द्रियों के इन भीतरी भागों से ग्रहण कर लें तो वही अपवर्ग अर्थात् मुक्ति का दाता बन जाता है। देखो, जङ्गलों में रहने वाले मुनि लोग इसी दृश्य के द्रष्टा बन करके योगाभ्यास किया करते हैं और मोक्ष मार्ग का उद्घाटन करते हैं। देखो, आनन्दकन्द अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी दृश्यके भावोंको इस प्रकार समझाया है—

**या निशा सर्वभूतानां,**
**तस्यां जागर्ति संयमी।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि,**
**सा निशा पश्यतो मुनेः।**

अर्थात् प्रानीमात्र की जो रात है मुनि लोग उसमें जगते रहा करते हैं और जिसमें संसार के मनुष्य मात्र जगते हैं, उसमें मुनि सोया करते हैं।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! यह आप क्या बात कह रहे हैं। हमें तो रात में कोई भी जागता नहीं दिखलाई देता। चाहे ऋषि-मुनि हो या साधारण मनुष्य, हमें तो रात को सभी सोते दिखाई देते हैं।

उत्तर—हे पुत्र ! तुम्हारा यह प्रश्न बिल्कुल ठीक है, क्योंकि तुम इस विषय को अभी तक समझते नहीं हो। जिस समय मनुष्य अन्तर्द्रष्टा बनता है और भीतर दिव्य दृश्यों का दर्शन प्राप्त करने लगता है, उस समय उसको बाह्य जगत का बोध नहीं रहता। इसका सही-सही अर्थ यही है कि वह बाहरी दुनियां की चहल-पहल, नाच-कूद, रंग-बिरंगे दृश्यों को बिल्कुल-बिल्कुल भूल जाता है। वह केवल अपने आत्म-चिन्तन में ही मग्न रहा करता है। इसी का अर्थ संसारी जिसमें जगते हैं, मुनि उसमें सोया करते हैं और जिस अध्यात्म चिन्तन में, अर्थात् भीतरी दृश्यों में मुनि जागता रहा करता है, उन्हीं दृश्यों में संसार वाले सोया करते हैं अर्थात् संसार वालों को वह नजारे दिखलाई नहीं देते।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! मैंने यह भी सुना है कि हम लोग संसारी, रात में सोया करते हैं एवं वृन्दावन और ऋषिकेश आदि में साधु लोग रात में जागकर अपना भजन, ध्यान किया करते हैं और निद्रा का आलस्य उतारने के लिए वे लोग दिन में सो जाया करते हैं ?

उत्तर—हे वत्स ! तुम्हारी यह बात भी ठीक है, वह भी ठीक ही है, क्योंकि रात्रि का वातावरण शान्त होता है, सांसारिक लोग सोये रहते हैं, उस समय मन में एकाग्रता उत्तम होती है। भजन करने के लिए वह वातावरण ठीक रहता है, किन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने उपरोक्त श्लोक अध्यात्म-चिन्तन के लिए एवं मनोवृत्तियों को शान्त रखने के लिए ही कहा है, ताकि योगी अपने अन्दर बाह्य दुनियां के नजारे न देखकर अन्तर्दृश्यों को देखें।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! आप बार-बार चित्त की एकाग्रावस्था एवं एकाग्रता को समझा रहे हैं, इसका क्या अर्थ है ? इसका तो अर्थ यह मालूम पड़ता है कि चित्त की और भी अवस्थायें होती हैं।

उत्तर—हां-हां पुत्र ! चित्त त्रिगुणात्मक है और वह त्रिगुणात्मक चित्त अपने-अपने गुणों की प्रधानतानुसार चित्त की अन्य-अन्य भूमिकाओं में बँटा रहता है। देखो ! हम तुम्हें चित्त की भूमिकाओं को समझाते हैं। सारे संसार के प्राणियों के चित्त पांच अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं, उनमें से—

१. मूढ़ावस्था के प्राणी :

जिनमें तमोगुण प्रधान रहता है। तथा रज और सत्व, गौण हो जाया करते हैं। इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से आवृत रहा करती है और वे आलस्य तन्द्रा में घिरे रहते हैं, किसी भी प्रकार उनकी उदरपूर्ति होती रहे। इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित लोक-परलोक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

## २. क्षिप्तावस्था के प्राणी :

जिनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सतोगुण गौण रहने के कारण इनके मन से चंचलता, दुःख-शोक, चिंतायें बनी रहती हैं। लौकिक साधना ही इनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य धन्धे (बिजनेस) व्यापार के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी आस्था नहीं होती।

## ३. विक्षिप्तावस्था के प्राणी :

जिनमें सतोगुण प्रधान रहता है, रजोगुण और तमोगुण गौण रहता है। इनके मन में पूर्ण प्रसन्नता, क्षमा, दया, परोपकार की भावना और साधनों में संलग्नता, ज्ञान, धर्म वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है। इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलता है तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन, उपासनाएँ आदि करते हैं। किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी भी योग श्रेणी के नहीं माने जाते।

## ४. एकाग्रावस्था के प्राणी :

जिनमें सतोगुण प्रधान रहता है। रजोगुण और तमोगुण वृत्ति मात्र में शेष रहते हैं। इनका मन दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् हो करके अपर वैराग्य प्राप्त होता है। मनुष्य का मन बड़ा अद्‌भुत और शक्तिशाली है। वस्तुतः विचारकर देखा जाय तो प्रभु की सृष्टि के बड़े-बड़े अद्‌भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं।

## ५. निरोधावस्था के प्राणी :

जिनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है और द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऊपर वर्णन की हुई पांचों प्रकार की अवस्थाओं में केवलमात्र एकाग्रावस्था को ही योग श्रेणी में लिया है। संसार का कोई भी प्राणी किसी प्रकार की साधनायें करता रहे, जब तक मन में एकाग्रता का उदय नहीं होता तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता।

प्रश्न – हे गुरुदेव ! आपने सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात का रूपक मुझे समझा तो दिया है, किन्तु कृपा करके और भी स्पष्टीकरण के साथ इनके भेद, उपभेद एवं किस तरह से साधक निरोध समाधि तक पहुँचता है कृपा कर यह सब बातें और समझा दीजिये। आपकी बहुत कृपा होगी कि आप इस योग तत्त्व को समझाकर अपने इस बालक को कृत-कृत्य बना दें।

उत्तर—हे पुत्र देखो ! भगवान् पतंजलिदेव ने योग के आठ अङ्गों का निम्नांकित सूत्र में वर्णन किया है। जिनका सही रूप से पालन करता हुआ मनुष्य योग के सही शब्दों को समझ सकता है। सूत्र इस प्रकार है—

**यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार,**
**धारणा ध्यान समाधयो दृष्टावङ्गानि।**

कह करके अष्टाङ्ग योग का वर्णन किया। अङ्ग-अङ्गी से अलग नहीं होते, इस विचार से अष्टांग योग के किसी भी एक अङ्ग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही।

उनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पांच अङ्ग धारणा, ध्यान, समाधि की अपेक्षा बहिरङ्ग है और धारणा, ध्यान, सम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात की अपेक्षा बहिरङ्ग है। भगवान् पतञ्जलिदेव जी के शब्दों में किसी एक में चित्त को बांधना धारणा कहलाती है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' से ही संप्रज्ञात का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग प्रवेश की योग्यता हो जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाला मन, जिसकी वृत्ति अन्तरमुखी हो चुकी है, संप्रज्ञात योग का अधिकारी बनता है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगम योग का अभ्यास करता है, जिसमें वह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पांच महाभूतों का तथा स्पर्श, रूप, रस, गंध इनके गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगम योग में पञ्चभूत और पांच भूतों से होने वाले सब विस्तार का और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अभ्यास से पृथ्वी तत्व में पहाड़, सुरम्य वन, उपवन और नाना प्रकार की दिव्य-सुगंधों को अनुभव करता है तथा जल तत्व में महान् नाना प्रकार के समुद्र और दिव्य रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्व में अनेक विधि ज्वालाओं और महान् दिव्य रूपों का अनुभव करता है। वायु तत्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है और आकाश तत्व में शून्य आकाश और आकाश से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है। इस वितर्कानुगत योग में सवितर्क और निर्वितर्क दो अलग-अलग भेद है। उसमें सवितर्क समाधिः—'तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्कासमापत्तिः' अर्थात् वितर्कानुगत में जिस समाधि में शब्द अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर अलग-अलग भाषित होते रहें, वह सवितर्क समाधि कहलाती है। इसका अभ्यास करते-करते चित्त ध्येयाकार हो जाय, शब्द, अर्थ, ज्ञान न रहे, तब वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए जैसे साधक के ध्यान में एक गाय है, गाय एक शब्द है और लम्बे गले वाली, दो सींगों वाली, सफेद रंग, चार पैरों वाली गाय एक पशु है और उस गाय के मन में ज्ञान होना कि वह एक गाय है यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द, अर्थ और ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते रहें, ऐसी स्थिति का

नाम सवितर्क समाधि है। जिसमें साधक का मन ध्येयाकार बन जाए। शब्द, अर्थ और ज्ञान अलग अलग अनुभव में न आकर अर्थमात्र भावित होता रहे वह निर्वितर्क समाधि है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।

## विचारानुगत-योग

निर्वितर्क समाधि पराकाष्ठा में पहुँच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था, किन्तु अब विचारानुगत योग में महाभूतों अपेक्षा उनसे सूक्ष्म तन्मात्र का प्रत्यक्ष करता है। जैसे वितर्कानुगत समाधि में स्थूल महाभूत आकाश व उसके गुण शब्द का अनुभव किया था अब विचारानुगत में सूक्ष्म आकाश या शब्द तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसी प्रकार वायु में वायु तत्व या स्पर्श तन्मात्र अग्नि में सूक्ष्म अग्नि तत्व या रूप तन्मात्र जल में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्र, पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसके साथ-साथ दस इन्द्रियों का मन, बुद्धि, अहंकार का प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है। जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं। इसी प्रकार विचारानुगत समाधिमें (१) सविचार (२) निर्विचार दो भेद है। सूक्ष्म विषय की सीमा प्रधान अलिंग तक है—"सूक्ष्म विषयत्व चलिङ्ग पर्यवसानम्।" जैसे हमने किसी भी तन्मात्र की सूक्ष्म ध्यान प्रारम्भ किया-उसका अनुभव देश, काल व निमित्त से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों अलग-अलग भावित होते रहें, इसका नाम सविचार समाधि है। जिस समाधि में ध्येय विषय देश काल निमित्त से सीमित न दिखलाई दे तो वह निर्विचार समाधि कहलायेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है और सूक्ष्मता की परिधि को पहुँच जाता है। क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मनका सूक्ष्म इन्द्रियों का सूक्ष्म बुद्धि और अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। इसलिये इसमें दैविक शक्तियों का विकास हो जाता है। इस स्थिति के योगी को दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्श आदि स्वतः ही होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं और उन सब मायिक स्थानीय देवताओं को देख कर भी योगी अपने आपको इन सबसे उत्कृष्ट देखता है। बुद्धि के आमोद-प्रमोद आह्लादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनंदमय देखता है। ऐसी स्थिति

में देव लोग अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। उस समय योगी को बहुत सचेत होकर रहने की आवश्यकता है। भगवान पतञ्जलि जी की आज्ञा है कि—"स्थान्युपनिमन्त्रेण सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात" ये चारों प्रकार की समाधियाँ सबीज कहलाती हैं। यहाँ तक कि संसार का बीज बना रहता है। मनुष्य संसारसे परे नहीं हो पाता, इसलिये स्थूलार्थ में सवितर्क और निर्वितर्क और सूक्ष्मार्थ में सविचार और निर्विचार समाधियाँ सबीज हैं, किन्तु निर्विचार समाधि ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी स्थिति निर्मल बनती चली जाती है। पुरुष की प्रकृति पर्यन्त सब सूक्ष्म स्थूल पदार्थ शीशे की तरह चमकते हुए दिखाई देने लगते हैं, तब "निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः निर्विचार" समाधि की निर्मलता में योगी को स्फुट-प्रज्ञा-लोक होता है।

प्रज्ञा प्रसादमारुह्य,
शौच्यः शोचतो जनान ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः,
सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।

ऐसी स्थिति में योगी सब चिन्ताओं से रहित होकर सांसारिक प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इस प्रकार देखता है जिस प्रकार पहाड़ पर खड़ा होकर मनुष्य जमीन वालों को देखता है, इस स्थिति समाधिस्थ योगी को "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा:" ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। उस समय योगी कुछ देखता है सत्य देखता है। इस बुद्धि का विषय श्रुत और अनुमान से बहुत आगे का होता है। इसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आमोद-प्रमोद आह्लादित विषयों में ज्योंही योगी संयम करता है त्योंही अपने आपको आनन्दमय देखने लगता है, यही सम्प्रज्ञात समाधि की तीसरी स्थिति—आनन्दानुगत की है। इसी प्रकार पुरुष की दृढ़ शक्ति और बुद्धि की दर्शन शक्ति जब एक रूप में भाषित होती है और उसमें योगी संयम करता है, तब वह अस्मितानुगत योग को प्राप्त होता है। इस अस्मितानुगत योग में पुरुष की दृढ़ शक्ति और बुद्धि की दर्शन शक्ति क्योंकि एकाकार भाषित होती है, इसलिये इसको जड़-चेतन की गांठ कहा गया है। विवेक ख्याति के द्वारा ही स्फुट प्रज्ञा-लोक हो जाने के बाद विवेक ख्याति से ही जड़-चेतन की गांठ खुल जाती है और ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा अन्य संस्कारों का प्रतिरोध होने के बाद निर्बीज समाधि को योगी प्राप्त करता है, यही परम पुरुषार्थ है।

हे परम पूज्य गुरुदेव ! आपने बहुत अच्छी प्रकार से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग की सभी भूमिकाएँ समझायीं। हे गुरुदेव ! मैं यह भली प्रकार से समझ गया हूँ कि आप मुझ

# 卐 योगिनी मदालसा

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए., बी-एड. सांख्य-योगाचार्य

प्राचीन समय में बृहस्पति के समान बुद्धिमान तथा इन्द्र के समान पराक्रमी शत्रुजित नाम के राजा थे। उनके ऋतुध्वज नामका एक अत्यन्त पराक्रमी, गुणवान, विवेक-बुद्धि-सम्पन्न विख्यात पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके रूप, वैभव तथा गुण से आकृष्ट होकर मनुष्य लोक के गुणी लोग उनके पास चले आते थे। एक दिन नाग लोकके दो सुन्दर कुमार उससे आकर्षित होकर ब्राह्मण के वेश में उसके पास आकर आमोद-विनोद करने लगे। एक समय गालब नाम के श्रेष्ठ ब्राह्मण ने सुन्दर अश्व लाकर राजकुमार से कहा कि कोई पापी दैत्य मेरे आश्रम में आकर मेरी योग-साधना में विघ्न उपस्थित करता है। हे राजन्! मैं स्वयं ही उसे अपनी क्रोधाग्नि से भस्म कर सकता हूं, किन्तु ऐसा करने से मेरी दुःखपूर्वक संचित की गई तपस्या नष्ट हो जायेगी। मेरी तपस्या का प्रभाव तो अद्भुत है। एक दिन मैंने दुखित हृदय से आकाश की ओर अपना दीर्घ निःश्वास छोड़ा तो उसी समय आकाशवाणी हुई कि तुम्हें एक अश्व प्राप्त हो रहा है। वह बिना रुके सूर्य के समान आकाश, पाताल, जल तथा अग्नि में सर्वत्र गमन कर सकता है। ऐसा कहते ही 'घोड़ा' आकाश से नीचे आ गया। उस आकाशवाणी ने आगे कहा कि शत्रुजित के पुत्र ऋतुध्वज इस अश्व पर चढ़कर विघ्नकारी दैत्यों का संहार करेंगे तथा अश्व-रत्न से आपकी ख्याति बढ़ेगी। ब्राह्मण की ऐसी बात सुनकर शत्रुजित ने अपने पुत्र को अश्व पर चढ़ा आशीर्वाद देकर योगी ब्राह्मण के

---

[ पिछले पृष्ठ का शेष ]

अधम को इस योग शिक्षा के द्वारा इस संसार-सागर से अवश्य-अवश्य उभार लेंगे। ओह! कितने योग के सूक्ष्म विषय आपने समझाये हैं, इतना कोई भी व्यक्ति यथार्थ में समझा नहीं सकता। मैं आपकी आज्ञा और इस पवित्र शिक्षा को प्राप्त करके अवश्य ही पूर्ण रूपेण को प्राप्त करूंगा। इसी प्रकार योगाचार्य तपोनिधि जी का अपने नित्य कर्म का समय हो गया। उपस्थित सभी श्रोताओं ने योगाचार्य तपोनिधि जी की जय ध्वनि का उच्चार किया एवं करतल ध्वनि से सभी ने मिल करके आकाश-तल को निनादित कर दिया—

सर्वे भवन्तु सुखिनः,
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मां कश्चिद्दुख भागभवेत्॥

❀ ॐ ❀

विघ्नों को कम करने उनके आश्रम में भेज दिया। वहां जाकर राजकुमार ने आश्रम को निर्विघ्न कर दिया।

एक दिन एक दैत्य ने शूकर के रूप में आकर गालव मुनि की सन्ध्योपासना में विघ्न डाला। वह मुनि के शरीर से अपना शरीर रगड़ने लगा। राजकुमार तपस्वियों की चीत्कार सुनकर अश्व पर चढ़कर शूकर का पीछा करते-करते पाताल लोकमें चला गया। वहां पहुँचकर शूकर तो गायब हो गया किन्तु सुन्दर नगरी में परम लावण्यमयी एक स्त्री को राजकुमार ने देखा। स्त्री राजकुमार से बिना बातचीत किये एक ऊँचे भवन पर चढ़ गई। स्त्री का पीछा करते हुए राजकुमार भी भवन में चले गये। वहां देखा कि वह सुन्दरी मूर्च्छित होकर लेटी है और उसकी सखी पंखा झल रही है। राजकुमार ने उस सखी से सुन्दरी के बारे में पूछा। सखी ने बताया कि यह विश्वावसु नामक स्वर्गके गन्धर्व की कन्या मदालसा है। इसे वज्रकेतु दानव का पुत्र पातालकेतु अपनी तामसी माया द्वारा हरण कर लाया है और आगामी त्रियोदशी को इससे शादी करना चाहता है। हे राजकुमार! इस दैत्य से आप राजकुमारी की रक्षा करें। उसी पातालकेतु ने शूकर का रूप धारणकर मुनियों के आश्रम में विघ्न उपस्थित किये हैं। ये सब मैं अपने योग-बल से जानती हूँ। आपने दानवों को अपने बाणों से विद्ध कर दिया है। अब आप मदालसा को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाइये। राजकुमार कुण्डला नाम की उस सखी से कहने लगे—हे तपस्विनी! अपने पिता की आज्ञा के बिना मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ? कुण्डला बोली—आप इस देव-कन्या के पति बनें। तपस्विनी के वचन मान कर राजकुमार ने शादी की अनुमति दे दी, तभी मदालसा ने अपने कुलगुरु का ध्यान किया। गुरु तुम्बरु समिधा और कुश लेकर वहां उपस्थित हो गये और दोनों का विवाह सम्पन्न कराया। कुण्डला ने सखी सम्बन्ध से दोनों को आशीर्वाद किया। 'धर्म, अर्थ और काम पति पत्नी दोनों के एक मन होने से प्राप्त होते हैं। देवता, पितर, भृत्य तथा अतिथि-सत्कार करना पत्नी का धर्म है तथा धन का धर्मपूर्वक उपार्जन करना पुरुष का धर्म है।' दोनों को इन शब्दों के साथ आशी-र्वाद देकर कुण्डला अपने स्थान लौट गई।

जैसे ही राजकुमार मदालसा को लेकर अपने पितृगृह जाने लगा, उसे दानवों ने घेर लिया। राजकुमार ने बाणों से दानवों के छक्के छुड़ा दिये और अपने अस्त्र से पाताल-केतु को भस्म कर दिया। शत्रुओं का संहार कर मदालसा को लेकर राजकुमार ने अपने पिता का आशीर्वाद प्राप्त कर उन्हें प्रसन्न किया। जो अपने पराक्रम से यश प्राप्त करता है, वह उत्तम पुरुष है तथा जो पिता की

ख्याति से विख्यात होता है वह मध्यम है। मातृकुल से यश पाने वाला अधम पुरुष होता है। पिता से आशीर्वाद प्राप्त राजकुमार मदालसा के साथ विहार करने लगे। पिता की आज्ञा पाकर ब्राह्मणों की रक्षार्थ राजकुमार एक जंगल में गया। वहाँ पातालकेतु का छोटा भाई पुरानी शत्रुता का बदला लेने के लिए मुनि का वेश बनाकर रहता था। राजकुमार ने उसे मुनि समझ उसकी आज्ञानुसार यज्ञ दक्षिणा के देने के लिए मुनि को कण्ठहार सौंप आश्रम की रक्षा करता रहा। कपट मुनि राजकुमार को वहीं छोड़ बहाने से वहाँ से मदालसा के घर चला गया और कण्ठहार देकर राजकुमार की मृत्यु का संदेश सुनाया। मदालसा पति वियोग से दुखित हो गई और वहीं अपने प्राण त्याग दिये। पिता भी पुत्र शोक में डूब गये। राजा ने मदालसा का संस्कार कर दिया। उधर कपट मुनि ने वापिस लौटकर राजकुमार को अपने नगर जाने की आज्ञा दी। राजकुमार अश्व पर सवार होकर जब नगर में आये तो शोकाकुल दृश्य देखकर तथा मदालसा के प्राण-त्याग का प्रसंग सुनकर कटेवृक्ष की तरह गिर पड़े। परिजनों ने उन्हें पराक्रम तथा धैर्य का अवलम्बन लेने की सलाह दी। नागराज अश्वतर ने भगवान शंकर की आराधना से मदालसा को पुनः अपनी पुत्री के रूप में प्राप्त किया। भगवान शंकर ने तपस्या से प्रसन्न होकर कहा-हे नागराज! तुम पवित्र होकर पितरों का श्राद्ध करना तथा मध्य पिण्ड का भक्षण करना, जिससे मदालसा ने जिस अवस्था में श्वास त्याग किया है, उसी अवस्था में उत्पन्न हो जायेगी।

मदालसा देवों के साथ क्रीड़ा करने लगी। अश्वतर ने मदालसा को राजकुमार के समक्ष प्रकट कर पुनः संयोग करा दिया। राजकुमार नागराज को प्रणाम कर मदालसा सहित अपने नगर चले आये और अपने पिता को मदालसा प्राप्ति का सारा वृत्तांत कह सुनाया।

मदालसा के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'विक्रान्त' रखा गया। मदालसा ने प्यार, पुचकार, स्नान, भोजन, सुलाने के लिए लोरी गाने में उसे योग-ज्ञान दे दिया। योगिनी मदालसा में देव-शरीर होने से योग की प्रतीति जन्म होते ही होगई थी। मदालसा अपने पुत्रसे कहा करती थी-हे पुत्र! तुम्हारा शरीर पंचभूतों का है। तुम नामरूप विहीन, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य हो! जैसे यह शरीर तुम्हारा नहीं है, वैसे तो तुम भी इसके नहीं हो, फिर क्यों होते हो? यह शरीर आवरण है तथा क्षीण होने वाला है, अतः तुम इसके मोह में न पड़ना। जैसे पृथ्वी पर गाड़ी है और गाड़ी में शरीर है, उसी प्रकार शरीर में भी कोई है, वही तुम हो। जन्मसे ही माता से आत्म ज्ञान के उपदेश पाकर पुत्र की ममता

दूर हो गई और वह निवृत्ति मार्ग का योगी हो गया।

कुछ काल के बाद मदालसा के द्वितीय पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'सुबाहु' रखा। उसे भी मदालसा ने आत्मज्ञानी बना दिया, जिससे वह भी विरक्त होकर योग-साधना करने वन चला गया। फिर तीसरा पुत्र हुआ जिसका नाम शत्रुमर्दन रखा। उसे देखकर मदालसा हँसी। उसे भी दोनों पुत्रों के समान आत्मज्ञान देकर निवृत्ति मार्ग का पथिक बना दिया। कुछ काल बाद उनके चौथे पुत्र का जन्म हुआ। जब राजा पुत्र का नामकरण करने के लिए उद्यत हुआ, मदालसा पुनः हँसी। राजा ने मदालसा से हँसने का कारण पूछा। मदालसा ने कहा राजन्! नाम में गुण अवश्य होता है पर आत्मा तो गुण रहित है। इस पुत्र का नामकरण मैं करूँगी। उसने अपने पुत्र का नाम 'अलर्क' रखा। जब चौथे पुत्र को भी मदालसा आत्मज्ञान देने के लिए उद्यत हुई तो राजा ने चिंता प्रकट की कि पुत्रके निवृत्ति मार्गी बनने पर कर्म मार्ग का नाश हो जायगा। अतः कृपा कर इसे गृहस्थमार्ग में प्रवेश कराने का प्रयत्न करो। सभी पुत्र यदि विरक्त हो गये तो पितरों को पिण्डदान कौन करेगा? पिण्डोदक लुप्त होने पर पितरगण क्षुधा-पिपासा से व्याकुल रहेगा। और वे नाना योनियों में भटकते रहेंगे। उन्हें मनुष्य शरीर मिलना कठिन होगा। गृहस्थ आश्रम से पितरों देवों, मनुष्यों, (अतिथियों) तथा पशुपक्षियों का जीवन निर्वाह होता है। मनुष्य, पितर, प्रेत, भूत, गुह्यक, पक्षी, कृमि कीटादि सभी मनुष्यों के आश्रय में अपना जीवन निर्वाह करते हैं इसलिए हेदेवि! इस बालकको इहलोक तथा परलोक तथा क्षत्रियोचित ज्ञान का उपदेश देना।

पति की आज्ञा शिरोधार्य कर मदालसा ने अलर्क को खिलाने के बहाने शिक्षा देना प्रारंभ किया—हे पुत्र! तुम मित्रों और सज्जनों का उपकार तथा शत्रुओं का पराभव करने के लिए बुद्धि को प्राप्त हो तथा अपने पराक्रम द्वारा अपने पिता का हृदय आनन्दित करो। दीर्घकाल तक शत्रु विहीन वसुन्धरा का पालन करते हुए धर्म का संचय करो और धर्म से अमरत्व का वरण करो। भगवान का ध्यान-कर कामादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। ब्राह्मणों का सदा सत्कार करो। निन्दा से डरो। यज्ञ के लिये व्यय करो। विभिन्न यज्ञों से देवताओं को, दान से विप्रों को और आश्रितों को प्रसन्न करो।

कौमारावस्था प्राप्त होने पर मदालसा ने अलर्क को राजधर्म का उपदेश किया। धर्मानुसार प्रजा को सुखी रखना तथा मंत्रणा गुप्त रखना। अमात्यवर्ग की हर समय खबर रखना जिससे वे शत्रु की ओर न मिल जाय। मित्र, आप्त या बन्धु का भी विश्वास न करना

किन्तु समय आने पर शत्रु का भी विश्वास न करना। जितेन्द्रिय होकर स्वजनों पर विजय पाने के बाद शत्रुओं को जीतना। जिसके राज्य में वर्णाश्रम धर्म नाश नहीं होते वह राजा स्वर्ग को पाता है। गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे फिर आत्मदर्शन के लिए संन्यास आश्रम में प्रवेश करना। इस प्रकार पुत्र को उपदेश देती हुई कौमारावस्था के आने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश दिला अपनी अँगूठी में बँधा एक पत्र देकर तप करने वनमें चली गई। उस पत्र में लिखा था:—

संगः सर्वात्मना त्याज्यः
स: चेत्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः
सतां संगो हि भेषजम् ॥

मार्कण्डेय पुराण पृ. ३४७/२२

सबसे अच्छा यह है कि किसी का संग न करे अपनी आत्मा का संग करे। यदि संग का त्याग मुश्किल हो तो साधु संग करे क्योंकि— साधु संग ही संसार रूपी रोग की औषधि है।

❀ ❀ ❀

## —❀ स्मृत्याधिष्ठानं चित्तम् ❀—

[ स्मृति का आधार चित्त है ]

अन्तःकरण का वह भाग जिसमें ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अनुभव संस्कार रुप में अङ्कित रहते हैं, चित्त कहलाता है। मस्तिष्क में काम करने वाले किसी विशेष ज्ञान-तन्तु मण्डल को चित्त नहीं कहते। चित्त तो सत्व, रज, तम से बना हुआ विस्तृत तत्व है जिसमें इन गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण कई प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं। यही चित्त संस्कारों का आधार है। चित्त में अनेकानेक वृत्तियाँ उत्पन्न होतीं और नष्ट होती रहती हैं। किन्तु नष्ट होने पर भी उनका प्रभाव शेष रह जाता है, जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। संस्कारों से वृत्तियों और वृत्तियों से संस्कार बनते रहते हैं। यदि विरोधी भावनाओं से आत्मा इन्हें उखाड़ न फेंके तो यह संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चित्त में बने रहते हैं।

—श्रुति-सार

# अमृत-कला

☸ ब्र० श्री पार्श्वनाथ जी

सहस्रदल कमल के मध्य में जो सिंहासन है, उसके नीचे दो कलाओं के दो केन्द्र—जंकशन हैं। एक का नाम है—अमृत-कला और दूसरी का नाम है—मृत्यु-कला।

एक तत्त्व तो सहस्रदल कमल की शाही से नीचे की तरफ उतरता रहता है। उसका रंग जुगनू जैसा है। उस तत्त्व को देखते ही शहद से भी सौ गुना 'धुर—मधुर सुगन्धित स्वाद' अपने आप आने लगता है। अगर उसे पी लो, तो फिर क्या बात! उसी तत्त्व को यानी उसी 'शाही-सूत्र' को—उसी ब्रह्म-सूत्र को अमृत-कला कहते हैं। उसको जानने वाला सर्वदा तथा सर्वथा १६ साल का रहता है। इसीलिये इस अमृत-कला में 'षोडशी' नामक शक्ति निवास करती है। षोडशी अथवा अमृत-कला पर विचार तभी किया जा सकता है, जब उसके जानने वाले काफी हों।

सहस्रदल कमल के 'शिव-शक्ति-संयुक्त सिंहासन' के नीचे जो 'कर्णिका' है, वहीं से अमृत-कला का तत्त्व यानी सोता या सूत्र जारी है और जो सद्गुरु का लाड़ला लड़का उस सोते का 'आबेहयात' पीने लगता है, वह खुद षोडशी बन जाता है। षोडशी की शक्ति ही सहस्रदल कमल के परमात्मा की आत्मा है।

वहां पर कैवल्य रूप से केवल अमृत-कला ही है। मगर जीवन के उस चन्द्र की जो चांदनी वहां फैली है, उसे मौत का घोर अन्धकार जकड़े हुए है। इसलिये वहां मौत का भी जंकशन है। एक होकर भी वहां दो हैं-चांदनी रूपी जीवन है, अन्धकार रूप मरण है। वहीं दोनों महातत्त्व रहते हैं। सिंहासन के नीचे दो घटायें हैं—एक अमृतमयी और दूसरी मरणमयी।

## अमृत-कला के काम

१-अपने साधक को दीर्घ जीवन देती हुई जीवन-मरण की शिक्षा देती है।

२-अपने साधक को बुढ़ापा और मौत से बचाये रखती है।

३-अपने साधक को ऐसे महात्माओं से मिलाती रहती है, जो बहुत दिनों से उसके विद्यार्थी हैं—ताकि उसका ज्ञान विस्तृत हो।

## अमृत-कला के सूत्र

अमृत-कला का सूत्र कुण्डलिनी के भीतर होता है। जिनकी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं हुई, उनको अमृत-कला का परिचय नहीं हो सकता। उनके लिए अमृत-सूत्र होने पर भी नहीं है। क्योंकि सहस्रदल कमल वाला वह अमृत-तर्पण

कुण्डलिनी की नागनी ही पी जाती है। जीवात्मा को पीने लिए वह प्राप्त नहीं होता।

भूगोल की मर्दुमशुमारी दो अरब है। उसमें बहुत थोड़े ही व्यक्ति अमृत-कला से सम्बन्ध रखते हैं, शेष सब मृत्यु-कला से सम्बन्ध रखते हैं। जो अमृत-कला में नहीं गया, वह मृत्यु-कला में स्वयं फँस जाता है। इस प्रकार प्रायः समस्त संसार मृत्यु-कला से परिचय रखता है और वह सबके लिये मृत्यु को अनिवार्य देखता है।

अमृत-कला चाहती है कि सारा संसार अमर हो जाय। परन्तु वह कुण्डलिनी-आबद्ध होने से अपना पूरा काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। मृत्यु-कला कुण्डलिनी से आबद्ध नहीं है, इसलिये उसका प्रभाव सर्वत्र सर्वदा पड़ा करता है।

जो लोग कुण्डलिनी-बद्ध हैं, उनके लिये अमृत-कला का परिचय नीचे लिखे साधनों से प्राप्त हो सकता है। बाहरी जगत् के कतिपय पदार्थों में भी अमृत-कला की कला विद्यमान है और वह अमरत्व का प्रचार करती रहती है। जगत् में बहुत थोड़े अमर लोग ऐसे हैं, जिन्होंने सद्गुरु कृपा से कुण्डलिनी को जाग्रत करके अमृत-कला प्राप्त की है। शेष सब अमर लोग बाहरी पदार्थों से अमर हुए हैं।

१–अमृत-कला का एक सूत्र प्रत्येक स्त्री में मौजूद रहता है। किसी स्त्री की दाहिनी आंख में होकर वह सूत्र नीचे की तरफ उतरता है और किसी की बांयीं आंख में होकर। जिस नेत्र में गुलाबी रंगत छाई हुई हो, समझ लो कि उसी तरफ से अमृत-कला का सूत्र आ रहा है। स्त्री को सीधा लिटा देना चाहिए और उसी नस को हाथ के अँगूठे से रगड़ना चाहिए, जो अमृतवाहिनी नस है। इस साधन से अमृत प्राप्त हो जाता है। उसे धो डालना चाहिए। वह पानी में मिलता नहीं है। अमृत का रंग हिंगुल-सा सुरख होता है। शहद-सा वह गाढ़ा होता है। उसमें कस्तूरी की खुशबू होती है। किसी चीज में मिलता नहीं। पारे की तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीने में अत्यन्त मधुर। संसार की सारी मधुरता मात हो जाती है। कम से कम एक छटांक पीने से अमृतत्व प्राप्त होता है।

२–हिमालय प्रदेश में सजीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अँधेरी रात में उसका हर एक पत्ता जुगनू की तरह चमकता है। लक्ष्मण जी की जब अकाल मृत्यु आई थी, तब इसी बूटी ने उनको अमरत्व प्रदान किया था। सिद्ध पुरुषों में बहुतेरे इसी सञ्जीवनी द्वारा दीर्घ-जीवी हो सके हैं।

३–जीभ का जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है, उसको कटवा देना चाहिये और मक्खन के सहारे उस जीभ को खींच-खींचकर लम्बा करना चाहिए। इसके बाद शीर्षासन लगाना

चाहिये। नीचे सिर और ऊपर पैर करके खड़ा होना चाहिये। कानों को हाथों के दोनों अँगूठों से बन्द करना चाहिये। नेत्र भी बन्द रखने चाहिये। तालु की तरफ़ जीभ को बढ़ाना चाहिये। अमृत-कला का जो अमृत घट में प्रकट होता है, उसको इस साधन द्वारा जीभ से पीना चाहिये। इस साधन वाले के सामने कुण्डलिनी का कपट हार जाता है।

अमर-कला वाला सर्वदा जीवित रहेगा, ऐसी बात नहीं है। अमर-कला वाले की मौत उसी के अधिकार में हो जाती है। वह जब मरना चाहे, मर भी सकता है। अपना जीवन मरण अपने हाथ में कर लेना ही अमृत-कला का लक्ष्य है।

जीवन के तीन दर्जे हैं—(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ साल के भीतर मर जाते हैं, उनको मर कहते हैं। अमर लोग अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा मरने वालों को मारा करते हैं। जो अपनी मृत्यु अपने हाथ में रखते हैं—जिनको जीवन का स्वराज्य मिल गया है, उनको अमर कहते हैं। वे या तो अपनी इच्छा से मरते हैं या कोई दोष हो जाने के कारण उनको कोई अविनाशी मार डालता है। रावण था अमर—राम थे अविनाशी। रावण ने अपना काल अपनी चारपाई से बाँध रखा था। इसका मतलब यही है कि रावण की मौत उसी के हाथ में थी। वैसा ही हुआ भी। उसने जान-बूझकर एक अविनाशी से तकरार की और जान से हाथ धो बैठा।

आशा है कि इस लेख से पाठक लोग यह बात समझ गये होंगे कि अमृत-कला द्वारा सबको दीर्घ-जीवन प्राप्त करने का अधिकार है।

### ※ संस्कार मात्र जन्यं ज्ञान स्मृतिः ※

( संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। )

इन्द्रियों द्वारा किसी विषय का अनुभव होने पर उसके संस्कार आत्मा में सन्निहित हो जाते हैं, कालान्तर में अनुकूल निमित्त अथवा उद्बोधक पाकर वे पुनः ज्ञान के रूप में उभर आते हैं। इस संस्कार जन्य ज्ञान का नाम स्मृति है। यह स्मृति (याद आना) किसी बाह्य इन्द्रिय द्वारा साध्य नहीं। अतः मनः चित्त की सिद्धि में स्मृति का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। जिस इन्द्रिय के द्वारा जो प्रथम जाना गया, या किया गया था कालान्तर में उस इन्द्रिय का प्रयोग न होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा प्राप्त अनुभव की याद उसके संस्कारों के फलस्वरूप ही बनी रहती है। इस प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान 'ज्ञान' कहाता है और संस्कार जन्य ज्ञान स्मृति।

—स्मृतिसार

# योग-चिकित्सा

श्री गिरीशदेव वर्मा

## प्रणव का जप
### (एक समग्र रोग विनाशक औषधि)

जब मनुष्य जाति ने पाषाण युग से निकल कर चेतना के युग में प्रवेश किया तो उसकी अन्वेषक दृष्टि ने चारों तरफ नजर दौड़ाई और उसने हर कार्य के कारण की गहरी खोज-बीन शुरू की। इसी क्रम में उसे पहिले पहल शारीरिक व्याधियों का सामना करना पड़ा। रोग क्यों हो जाते हैं और उसे कैसे दूर किया जावे ? यदि शरीर रोगी है तो हर प्रकार की प्रगति रुक जाती है, चाहे वह सांसारिक हो या आध्यात्मिक। अन्तर यात्रा के लिए तो एक निश्चित स्वास्थ्य की जरूरत होती है। भारतियों ने निरोगता की अवस्था का नाम स्वास्थ्य दिया। यह शब्द 'स्वास्थ्य' भी बहुत अर्थ पूर्ण है। इसका मतलब है स्व में स्थित हो जाना। अंग्रेजी का शब्द 'हेल्थ' (Health) भी सुन्दर है। यह आया है होल, हील, होल से। जब हम 'होल' (whole) यानी सम्पूर्ण होते हैं तो हेल्थी होते हैं और जब हम होल होते हैं तब होली (Holy) अर्थात् पवित्र भी होते हैं। रोगी व्यक्ति अपवित्र होता है। और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशीभूत होता है।

पाश्चात्य देशों ने रोगों को हटाने के लिये एलोपैथी का आविष्कार किया। यह पैथी ईसाइयत के साथ विकसित हुई है, मगर इस प्रणाली में रोग हटाया नहीं जाता बल्कि उसका दमन किया जाता है। इसमें ऐसी तेज दवायें दी जाती हैं कि रोग दब जाता है और तात्कालिक लाभ मालूम देता है, मगर रोग जाता नहीं है, वह किसी दूसरी जगह से फूट निकलता है। एलोपैथी के साथ मनुष्य एक बीमारी से दूसरी बीमारी तक दौड़ लगाता रहता है।

भारतीयों ने आयुर्वेद का आविष्कार किया। इसकी अवधारणा समग्रता की ओर है। इसमें रोग को दबाया नहीं जाता बल्कि वमन, विरेचन, स्वेदन, स्नेहन आदि से रोग को जड़ मूल से उखाड़ कर बाहर फेंक दिया जाता है। इसके बाद आन्तरिक ऊर्जा में एक समस्वरता बन जाती है।

अन्य देशवासियों ने भी अपने-अपने ढंग से रोगों से लड़ने का तरीका निकाला और बाद को अनेक प्रकार की पैथियां विकसित हो गयीं। फायड, जुंग, हेराक्लतु, हनीमैन, लाओत्से, च्वांगत्सु, कन्फ्यूशियस, जरथुस्त्र, किरालियान आदि कितने मनीषियों ने शरीर

व मन की स्वस्थता को स्थिर रखने के लिए अनेक उपाय निकाले हैं।

चीन ने इस दशा में एक विशेष आविष्कार किया, जिसका नाम आकुपंक्चर है। यह चिकित्सा प्रणाली आज भी वहां प्रचलित है। यह विज्ञान बड़ा ही विचित्र है, और वे इसका ज्ञान दूसरे देश वालों को नहीं देते हैं। चीन के शोध कर्त्ताओं ने यह पता लगाया कि मनुष्य शरीर में प्राण ऊर्जा एक वर्तुल में घूमा करती है। जब वह ऊर्जा किन्हीं स्थानों पर रुक जाती है और उसके गतिमान होने में रुकावट आ जाती है तो शरीर रोगी हो जाता है। चीनियों ने ऐसे सात सौ बिन्दु अथवा केन्द्र खोज निकाले हैं जहां ऊर्जा अवरुद्ध होती है और वर्तुल नहीं बनता। इसके निवारणार्थ उन्होंने छोटी-छोटी सुइयां बनाईं जिसे रोगी शरीर के उन सात सौ बिन्दुओं पर घुसेड़ देते हैं और ऊर्जा के प्रवाह को जो रुक रहा था गतिमान कर देते हैं और मनुष्य रोग से मुक्त हो जाता है। इसी को अकुपंक्चर कहते हैं।

चीन में जिस समय अकुपंक्चर का आविष्कार हुआ उसी समय भारत में आयुर्वेद का जन्म हुआ। करीब-करीब उसी समय महर्षि पतञ्जलि ने भी एक सिद्धान्त को जन्म दिया। इसे भी प्राण ऊर्जा का सिद्धान्त कहा गया। पातञ्जलि भी अकुपंक्चर के साथ सहमत हैं कि शरीर में एक प्राण ऊर्जा घूमती रहती है। जब वह ठीक प्रकार से गतिमान नहीं होती तो मनुष्य असुविधा अनुभव करता है। एक अभाव, एक अनुपस्थिति का बोध होता है। पहले यह अचेतन में अनुभव होता है, फिर चेतन में आता है और तब इसका नाम रोग पड़ जाता है। अंग्रेजी का शब्द डिस-ईज-( Dis-ease ) इसको बहुत स्पष्ट करता है। अर्थात् जब शरीर में ईज (ease) यानी सुविधा न हो तो वह डिस-ईज (Dis-ease)से युक्त हो जाता है। प्राण ऊर्जा के वर्तुल में जब किसी प्रकार रुकावट आने लगती है तब असुविधा अनुभव होने लगती है और इसी को रोग कहते हैं।

पतञ्जलि ने योग द्वारा इसके निराकरण का उपाय खोज निकाला। पतञ्जलि केवल योगी, ध्यानी, वैरागी या कर्म-काण्डी नहीं हैं। वे पूर्ण वैज्ञानिक हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने अपने प्रयोगशाला में पूर्ण शोध करके योग सूत्रों की रचना की है। अभी तक हम लोग योग सूत्रों पर कर्म-काण्ड के अनुसार विचार करते हैं और इसी दृष्टिकोण से आज तक सारी व्याख्यायें की गई हैं। जब वैज्ञानिक लोग इन सूत्रों को कम्प्यूटर में डालकर तथ्य निकालेंगे तब अनेक चमत्कार प्रकट होंगे और योग सूत्रों की महत्ता मालूम होगी। इसीलिये कहा जाता है कि पतञ्जलि पूर्ण वैज्ञानिक हैं। प्रज्ञा सम्पन्न हैं। वे धर्म प्रवर्तकों की कोटि में

नहीं आते हैं। वे बुद्ध पुरुषों की दुनियां के आंइस्टीन हैं। वे अद्‌भुत हैं, असाधारण हैं, अपूर्व हैं। यदि वे आज की दुनियाँ में होते तो उन्हें भी आंइस्टीन, बोहर, मेक्स, प्लैंक या हेसनबर्ग की तरह नोबुल पुरस्कार दिया जाता। उनकी अभिवृत्ति, विचार और दृष्टि बिलकुल वही है जो किसी भी नियम-निष्ठ या शुद्ध वैज्ञानिक मन की होती है। उन्होंने सत्य और मानवीय मानस की चरम क्रियाशील की व्युत्पत्ति को दिखा दिया है। अन्य धर्माचार्यों ने समाधि, आनन्द, चरमोल्लास या परम ज्ञान के सम्बन्ध में ज्ञान, कर्म व भक्ति का रास्ता दिखाया है और कविता की भाषा में बोले हैं, मगर पातञ्जलि ऐसा नहीं करते, वे कविता या सौन्दर्य की भाषा में नहीं बोलते, वे बात करते हैं गणित की भाषा में। वे तथ्यपूर्ण सूत्र देते हैं जो संकेत करते हैं कि क्या करना है। वे सोपान बनाते जाते हैं और आधार पकड़ाते हैं, जिसके सहारे मनुष्य चोटी तक पहुँच जाता है। वे बड़े ही कठोर गणितज्ञ हैं।

अतः पतञ्जलि ने भी रोगों से व्याधियों से छुटकारा पाने के लिए अकुपंक्चर से भिन्न प्रकार का उपाय निकाला। पतञ्जलि के लिये रोग का अर्थ है आन्तरिक जीव ऊर्जा का गैर लयात्मक ढंग। इसको कैसे ठीक किया जावे, इसे समझने के लिए हम उनके कुछ योग सूत्रों में प्रवेश करेंगे। समाधि पाद—

### तस्य वाचकः प्रणवः।

अर्थ—उसका वाचक यानी पुकारने का नाम ओ३म् है।

ईश्वर वाच्य है और ओ३म् वाचक है। ईश्वर अर्थ है और ओ३म् शब्द है। जैसे किसी व्यक्ति को पुकारने के लिये कोई नाम रखा जाता है, उसी तरह ईश्वर को बुलाने के लिए ओ३म् शब्द का प्रयोग किया जाता है। ओ३म् ही एक ऐसा सम्पूर्ण शब्द है जिसके उच्चारण में कण्ठ, जिह्वा, मूर्धा, तालु, दान्त ओठ सभी अङ्ग प्रभावित होते हैं।

ओ३म् सर्व व्यापक नाद का प्रतीक है। ब्रह्माण्ड का वास्तविक नाद है और ओ३म् की ध्वनि सारे विश्व में व्याप्त हो रही है। अपने अन्दर व बाहर हर ध्वनि ओ३म् के अस्तित्व को प्रगट कर रही है। ओ३म् की सात मात्रायें बताई गई हैं। १–अकार, २–उकार, ३–मकार ४–अनुस्वार, ५–ध्वनि, ६–नाद, ७–शान्ति। यह सातों मात्रायें क्रमानुसार सातों लोकों से सम्बन्ध रखती हैं। सारे संसार भर में ओ३म् का अनुभव किया गया है। मुसलमान, ईसाई, यहूदी इसे आमीन कहते हैं। जरथुस्त्र के अनुयायी, पारसी इसे आहुर माजदा कहते हैं। 'अ' से आहुर और 'म' से माजदा लगाकर इसे देवता बना दिया है। पतञ्जलि कहते हैं कि यदि तुम ईश्वर को पुकारना चाहते हो तो ओ३म् नाम से पुकारो। इसकी ध्वनि से वह

प्रभावित होकर निकट आ जायगा। वैज्ञानिक इसे ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत रूप दे सकते हैं।

**तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।**

अर्थ—उस ओ३म् का जप करते समय उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये।

ओ३म् तो शब्द है और उसका अर्थ ईश्वर है। शब्द व अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है। अर्थ-हीन शब्द का कोई मूल्य नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि—

"गिरा अर्थ जल बीचि सम,
कहिये भिन्न न भिन्न।"

इसी प्रकार मानसकार ने अपने प्रथम श्लोक में गाया है—

**'वर्णानां अर्थ सघानां रसानां······।'**

अर्थात् अक्षरों से शब्द बनते हैं और शब्दों का कुछ अर्थ होता है। जब शब्द के साथ अर्थ की भावना की जाती है तो एक रस पैदा हो जाता है जो जापक को आनन्दानुभूति में ले जाता है।

यदि केवल शब्द को दोहराये चले जाओ और अर्थ पर ध्यान न दो तो यह महर्षि महेश योगी का भावातीत ध्यान (Transcendental meditation) ट्रान्सेन्डेन्टल मेडीटेशन हो जायगा। यह एक हिप्नाटिक चाल हो जायगी। यदि तुम्हें नींद नहीं आती है तो यह तरीका अच्छा होगा। तुम्हें नींद की गोली खाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। मगर ऐसे जप से ऊर्जा का प्रवाह गतिमान नहीं होगा। नशे की तरह एक आदत पड़ जायगी। न करने पर तुम कुछ कमी अनुभव कर सकते हो, मगर आनन्द नहीं मिलेगा।

भारत में महर्षि महेश योगी के ध्यान की कोई परवाह नहीं करता, क्योंकि यहां के लोग तो गहरी नींद में सोये पड़े हैं। उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं है। मगर जो देश अमीर हो जाते हैं और लोग शारीरिक श्रम नहीं करते, उनकी निद्रा विलीन हो जाती है। तब उन्हें ट्रैंक्विलाइजर नींद की गोली लेनी पड़ेगी या महर्षि का भावातीत ध्यान। निःसन्देह भावातीत ध्यान नींद की गोली खाने से अच्छा है क्योंकि उसका कोई रासायनिक प्रभाव नहीं होता, किन्तु बहुत गहरे में यह एक सम्मोहक चाल है। तुम जादू द्वारा संचालित पुतले की भांति लगोगे। तुम जागरूक और सचेत नहीं होओगे। ओ३म् की ध्वनि एक ऐसी लोरी होती है जो तुम्हें सुला देगी। इसके द्वारा तुम मदहोश हो जाओगे।

मनस्विद् मन को तीन परतों में बांटते हैं। पहली है चेतन, दूसरी है उपचेतन और तीसरी है अचेतन। पतञ्जलि चौथा आविष्कार करते हैं और उसका नाम देते हैं परम चेतन। यदि तुम चेतन के आगे बढ़ जाते हो तो परम चेतन तक पहुँच जाओगे। इसी को परमात्मा की अवस्था भी कह सकते हैं। यदि तुम मन्त्र का

जप करते हो और अर्थ की भावना नहीं करते तो तुम उपचेतन में जा पड़ते हो। यह तुम्हें अच्छी नींद देगा, अच्छा स्वास्थ्य देगा, मगर धीरे-धीरे तुम अचेतन में जा गिरोगे। तुम सम्मोहन संचालित मूढ़ बन जाओगे। यह बात ठीक नहीं होती है। अतः पतञ्जलि जोर देते हैं कि मन्त्र का जप करो मगर साथ-साथ अर्थ की भावना भी करते रहो। जप की मीठी ध्वनि में खो मत जाओ। सचेत बने रहो, अधिकाधिक जागरूक बने रहो। ध्वनि तुम्हारे शरीर को शान्त अवस्था में गिरा देगी और जागरूकता तुम्हें परम चेतना की ओर उठा देगी। इससे क्या लाभ होगा, इस सम्बन्ध में वे अगला सूत्र देते हैं—

**ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।**

अर्थ—तब परम चेतना का जागरण हो जाता है और उससे सारी बाधाओं का तिरोभाव हो जाता है।

विघ्न बाधायें कौन-कौन हैं? इसकी एक लम्बी सूची पतञ्जलि ने आगे के सूत्रों में दी है और उन पर 'सिद्धयोग' में कई लेख निकल चुके हैं। यहां हम पहली बाधा "व्याधि" के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। व्याधि अर्थात् रोग—बीमारी। शरीर का स्वस्थ न रहना एक बड़ी बाधा है और अस्वस्थ शरीर से कोई योग-साधन नहीं हो सकता। पतञ्जलि संचेत करते हैं कि व्याधियों को दूर करने के लिए डाक्टरों वैद्यों या हकीमों के पास मत दौड़ो। इसके लिए ओ३म् के जप का सहारा लो। वे बताते हैं कि अर्थ की भावना करते हुये जप करने से तुम्हारे सारे रोग दूर हो जायेंगे और तुम स्वस्थ हो जाओगे। यह कैसे घटता है इस पर हम विस्तार से विचार करेंगे।

हम जो कुछ खाते-पीते हैं, श्वांस लेते हैं, उससे एक ऊर्जा उत्पन्न होती है जिसे जीव ऊर्जा कहते हैं। इसी को अकुपंक्चर वालों ने प्राण ऊर्जा कहा है। यह ऊर्जा शरीर में वर्तुलाकार घूमती रहती है और भीतर के अंग-प्रत्यङ्गों को शक्ति व बल देती रहती है। इसके बाद भी कुछ ऊर्जा बच रहती है जो हाथ पैर की अंगुलियों से बाहर निकल जाती है। खुली आंखें भी ऊर्जा को बाहर निकल जाने में मदद करती है। इसी तरह जब तुम झुकी हुई मुद्रा में बैठे या लेटे रहते हो और तुम्हारी रीढ़ की हड्डी सीधी नहीं रहती तो पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण बहुत सी ऊर्जा जमीन में चली जाती है। अब बीमारी की हालत आ जाती है। आहार-विहार में संयम न होने से अथवा निद्रा जागरण में नियमित न होने से अथवा बाह्य कीटाणुओं के आक्रमण से शरीर में रोग आ घेरता है। जीव ऊर्जा बांये से दांये ओर वर्तुलाकार घूमती रहती है और आंखों से, अंगुलियों से या मेरुदण्ड से रिसती रहती है।

यदि बची हुई ऊर्जा को रिसने से, बाहर निकलने से बचा लिया जावे और उसे रोगों को भगाने में लगा दिया जावे तो व्याधियां तिरोहित हो जाती हैं। अतः पतञ्जलि ने एक वैज्ञानिक आविष्कार किया और बताया कि जब मनुष्य ध्यान मुद्रा में किसी सिद्धासन, पद्मासन से बैठता है और कमर को सीधी करके आंखें बन्द कर लेता है और दोनों हाथों को गोदी में रख लेता है तब देह ऊर्जा बाहर निकलना बन्द हो जाती है। दोनों हाथ एक दूसरे के ऊपर रखे जाते हैं तो ऊर्जा एक हाथ से दूसरे हाथ तक घूमती रहती है। वह वर्तुल बन जाती है। इसी तरह पैर की टांगें एक दूसरे पर रखी जाती हैं तो ऊर्जा शरीर में ही बहती रहती है और बाहर रिसती नहीं है। जब आँखें भी बन्द हैं और रीढ़ की हड्डी भी सीधी है तब ऊर्जा के बाहर निकलने के सब रास्ते रुक जाते हैं और शरीर में बांये से दांये वर्तुल रूप में तेजी से घूमने लगती है।

अब इसी ध्यान मुद्रा की अवस्था में जब ओ३म् का जप किया जाता है और साथ-साथ अर्थ की भावना की जाती है तो एक अद्भुत घटना घटित हो जाती है। एक जप ऊर्जा शरीर में पैदा हो जाती है जो दांये से बांये घूमने लगती है। देह ऊर्जा बांये से दांये घूमती है और जप ऊर्जा दांये से बांये घूमती है। दोनों ऊर्जाओं का वर्तुल ( Circuit ) एक दूसरे से रगड़ कर विद्युत पैदा कर देते हैं और यह विद्युत सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है। अब रोग या कीटाणु चाहे जहां छिपे बैठे हों इस विद्युत प्रवाह से नष्ट होने लगते हैं, और सारी व्याधियां तिरोहित हो जाती हैं। शरीर को निरोग व स्वस्थ बनाने के बाद यह विद्युत मस्तिष्क में प्रवेश करती है और ज्ञान के कोषों को खोलना शुरू कर देती है। जब ध्यान मुद्रा का अभ्यास दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक किया जाता है तब योगी परम चेतन को यानी परमात्मा को उपलब्ध हो जाता है। केवल ध्यानपूर्वक ओंकार का जप ही साधक को परम लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है।

पतञ्जलि इस झंझट में नहीं पड़ते कि प्राण ऊर्जा किन-किन बिन्दुओं पर रुकती है अथवा उनके रुकने का केन्द्र सात सौ है या कम या अधिक और वे अकुपंक्चर की तरह सुई चुभोने की सलाह भी नहीं देते। वे तो एक दूसरी ऊर्जा उत्पन्न करने की प्रणाली बताते हैं और जब यह जप ऊर्जा उत्पन्न हो जाती तब रोग चाहे जितने बिन्दुओं पर छिपे हुए हों, वे सब विद्युत प्रवाह के अन्तर्गत जल-भुन जाते हैं और व्याधियां ही नहीं सभी अन्तरायों का अभाव हो जाता। पतञ्जलि पूर्ण वैज्ञानिक हैं और एक वैज्ञानिक ढंग का एक यौगिक नुसखा प्रस्तुत करते हैं।

अब हम ध्यान मुद्रा के सम्बन्ध में कुछ

चर्चा करेंगे। इसमें साधक को सिद्धासन, पद्मासन या स्वस्तिकासन से बैठना होता है। इसके पांच अनुशासन हैं—

१-स्थिर शरीर, २-शान्त चित्त, ३-कमर सीधी, ४-हाथ गोदी में, ५-आंखें बन्द। शरीर और मन की स्थिति इस स्तर की बना लेने के उपरान्त ही ध्यान-योग साधना सधती है।

(१) स्थिर शरीर—शरीर को पत्थर की प्रतिमा की भांति बना लेना। साधारण श्वास प्रश्वास की क्रियायें होती रहें, मगर कोई स्थूल अंग न हिले। आगे पीछे हिलने, जुलने, मटकते रहने से मन की चञ्चलता बनी रहती है। जब साधक आसन पर बैठ जावे तब ऐसा मालूम हो कि एक खूंटा गाढ़ दिया गया हो। शरीर की हलचलें जितनी कम होती जायेंगी, उतनी ही सफलता निकट आती जायगी।

(२) शान्त चित्त—कल्पनाओं की उड़ानें बन्द करना। एकाग्रता। स्व को किसी विशिष्ट से तादात्म्य बना लेने का नाम एकता व एकाग्रता है। स्व को इष्टदेव की सत्ता में घुला दिया जाय। उसके मन में मन को, प्राण में प्राण को और परमात्मा में आत्मा को घुला देने से शान्त चित्त की मनः स्थिति बनती है और इसी अवस्था में परमात्मा को ओ३म् के जप द्वारा पुकारा जाता है।

(३) कमर सीधी—ब्रह्मरन्ध्र उत्तरी ध्रुव और मूलाधार कुण्डलिनी दक्षिणी ध्रुव है। दोनों के मध्य प्रवाह क्रम जारी रहना आवश्यक है। इसमें अवरोध होने से व्यवस्था लड़खड़ा जाती है। जैसा हम पहले बता आये हैं कि पृष्ट वंश को सीधा रखने पर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति जीव ऊर्जा को अपने अन्दर नहीं खींचती है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के त्रिविध प्राण प्रवाह शरीर के अन्दर घूमा करते हैं और बाहर नहीं रिसते हैं।

(४) हाथ गोदी में—इसमें बांयीं हथेली पर दाहिनी हथेली रहे। दोनों हाथ मिले रहेंगे तो ऊर्जा अंगुलियों से बाहर नहीं जायगी बल्कि एक हाथ से दूसरे हाथ में होकर शरीर के अन्दर वर्तुलाकार घूमा करेगी। जैसे बिजली के एक तार को दूसरे तार से जोड़ देते हैं तो उसका सर्किट बन जाता है। इसी तरह टांग पर टांग तथा हाथ पर हाथ रखने से ऊर्जा का सर्किट बन जाता है।

(५) आंखें बन्द—ऊर्जा आंखों से ज्यादा रिसती है। आँखें बन्द रहेंगी तो ऊर्जा बाहर नहीं जायगी। विद्युत प्रवाह बाहर नहीं बिखरेगा। आंखों के साथ चित्त वृत्तियां भी बाहर भागती रहती हैं। आंखें बन्द होने पर चित्त-वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उस परम चेतन को प्राप्त करने में आसानी हो जाती है।

ओ३म् का जप कितनी देर किया जावे और किस प्रकार किया जावे, इस सम्बन्ध में

थोड़ी चर्चा करके इस लेख को समाप्त कर देंगे।

ओरेम् का जप तीन चरणों में किया जाता है। पहले इसे वैखरी वाणी से जपते हैं। यह स्थूल शरीर का जप हुआ। शरीर ही मुख्य द्वार है, अतः पहले जप शरीर से होने दो। किसी एकान्त मन्दिर में चले जाओ या अपने घर के किसी कमरे में। वहां जोर-जोर से ओरेम् का जप करो। जितने जोर से कर सको उच्चारण करो, मगर ध्यान रहे घर वालों या पड़ौस की शान्ति में बाधा न पड़े, नहीं तो वे तुम्हें पागल समझ लेंगे और इस प्रकार के जप पर रोक लगा देंगे। किसी जंगल, नदी या सरोवर के एकान्त स्थल पर इस प्रकार का जप अच्छा होता है। ओरेम् को जितना लम्बा खींच सको उतना खींचो जैसे किसी गांव में दूर के व्यक्ति को बुलाते हैं और जोर से हांक लगाते हैं। ओ S S S S S S म S S S S S S सम्पूर्ण शरीर का जोर लगा दो। वाणी के उच्चारण में तुम्हें बहुत प्रबल होना पड़ेगा ताकि सारा शरीर कम्प जावे, हिल जावे। पहले 'ओ' का उच्चारण करो और खींचते जाओ जहां तक तुम्हारी श्वास खींच रुके, फिर ओठों को बन्द करते हुए 'म्' के उच्चारण पर आ जाओ और फिर अनुस्वार के नाद को शान्त होते हुए अनुभव करो। इस पूरी प्रक्रिया में उस ईश्वर को बुलाने की, निकट आने की भावना बराबर बनी रहे। जब एक बार ओरेम् का नाद लय हो जाय तो पुनः 'ओ' का उच्चारण शुरू कर दो और 'म्' तक ले आओ। इसी प्रकार एक घण्टा रोजाना करो। यदि एक बार के ओरेम् के उच्चारण में एक मिनट लगता है तो रोजाना साठ बार उच्चारण करो। तीन महीने के बाद ऐसा अनुभव होगा कि मुँह ही नहीं जप रहा है बल्कि सारा शरीर जप कर रहा है। तुम्हारा शरीर सम्पूर्णतया ओरेम् से आपूरित हो जायगा। गहन तल पर यह शारीरिक कोशाणुओं में प्रवेश कर चुका होगा। यदि ईमानदारी से निरन्तर ऐसा जप किया जावे तो तुम्हारे शरीर से निकलने वाले नाद को अन्य लोग भी सुन सकते हैं। ऐसा कई बार घटित हुआ है।

ऐसा कहा जाता है कि स्वामी रामतीर्थ बहुत वर्षों से राम राम जपते थे। एक बार वे अपने एक मित्र के साथ हिमालय के किसी गांव में ठहरे हुए थे। मित्र का नाम था सरदार पूरनसिंह। आधी रात को अकस्मात् पूरनसिंह की नींद खुल गई और उन्होंने राम राम राम की ध्वनि सुनी। वहां कोई और न था। केवल स्वामी जी व सरदार थे। गांव भी बहुत दूर था। पूरनसिंह उठा और झोंपड़े के चारों ओर घूम आया लेकिन कोई न था वहां। वह जितना स्वामी जी से दूर होता गया, नाद कम होता गया। वह झोंपड़ी में

वापिस लौटा तो फिर नाद ज्यादा सुनाई पड़ने लगा। फिर वह निकट आ गया राम के जो गहरी नींद में सो रहे थे। जिस घड़ी वह ज्यादा निकट आया, नाद और भी ऊँचा हो गया। फिर उसने राम के शरीर से एकदम निकट कान लगाया। उनका सारा शरीर प्रकम्पित हो रहा था राम के नाद से।

ऐसा औरों के साथ भी घट सकता है। तीन महीने में सारा शरीर नाद से आपूरित हो जायगा। किसी-किसी को तीन महीने से ज्यादा भी लग सकते हैं। इसका अनुभव करो और जब नस-नस में, रोम-रोम में ओ३म् का नाद गुञ्जरित होने लगे तब दूसरा कदम उठाओ। पहला चरण है सारे शरीर को आपूरित करने का जिससे कि सारा शरीर एक नाद शक्ति बन जाता है। जब तुम सन्तुष्टि अनुभव करो, तब दूसरे चरण की ओर कदम बढ़ाओ।

दूसरा चरण है मुँह बन्द करके मध्यमा वाणी से जप करना। यह सूक्ष्म शरीर का जप हुआ। अब मन से जप करो ओ३म् का। गला, जीभ, होंठ, स्वर यन्त्र हर चीज बन्द रहनी चाहिये। सारा शरीर बन्द होना चाहिये और जप होना चाहिए मन से। प्रबलता वैसे रहे जैसे शरीर के साथ प्रयोग कर रहे थे।

इसमें भी उतना समय लगेगा जितना शरीर द्वारा लिया गया था। यदि स्थूल शरीर तीन महीने में ओ३म् से आपूरण हो जाता है तो तीन ही महीने में सूक्ष्म शरीर यानी मन आपूरित होगा। शरीर व मन दो नहीं हैं, वे हैं शरीर मन–साइको सोमेटिक, एक भाग है शरीर, दूसरा भाग है मन। शरीर है प्रगट मन, और मन है अप्रकट शरीर।

भीतर ओ३म् का जाप चलने दो। जब मन परिपूर्ण होता है तब और भी शक्ति खुलती है तुम्हारे भीतर। मगर ऊर्जा को बाहर मत बिखेरो। उसको संचित करते रहो।

अब तीसरा चरण आता है। यह सोपान आता है मन को आपूरित अनुभव करने के बाद। इसे तुम स्वयं जान लोगे। दूसरा नहीं जान पायेगा। तीसरे में न तो शरीर का और न ही मन का प्रयोग करना होता है। जैसे शरीर को बन्द करते हो वैसे ही मन को बन्द कर देते हो। यह पश्यन्ती वाणी का जप हुआ और इसमें कारण शरीर जप कर रहा होगा।

छः मास के बाद यह बहुत आसान हो जायगा। जब शरीर व मन बन्द हो जाते हैं तो तुम सुनोगे अपने अन्तर्मन में एक नाद को। ओ३म् होगा वहाँ जैसे कि कोई और जाप कर रहा है और तुम मात्र सुनने वाले हो। तुम केवल साक्षी बन जाते हो। यह है तीसरा चरण जो तुम्हारे समग्र अस्तित्व को बदल देगा। तुम्हारे अन्दर जब ऊर्जा उत्पन्न हो

जायगी। ज्ञान के कोष खुलने लगेंगे और सारी बाधायें गिर जायेंगी और सारी अड़चनें तिरोहित हो जायेंगी। बगैर औषधि के तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा और तुम आरोग्य को उपलब्ध हो जाओगे।

अतः यह ओ३म् का जप तीनों वाणियों से करने में लगभग नौ महीने लग जायेंगे और तब तुम्हें परम चेतन का सान्निध्य मिलने लगेगा। एक बात का ध्यान रहे कि जब कोई पश्यन्ती वाणी को सुनना शुरू कर देता है तो उसे वैखरी या मध्यमा वाणी से जप नहीं करना चाहिये। क्योंकि वह जप एक पलायन अर्थात् नीचे गिरना हो जायगा। मन्त्र का जप करना होता है और उसे गिरा देना होता है। मन्त्र केवल तभी सम्पूर्ण होता है जब तुम उसे गिरा सको। यदि तुम उसका जाप किये ही जाते हो तब तुम एक आश्रय के रूप में उससे चिपके रहोगे। जब कभी तुम भयभीत होओगे तुम फिर इसका जप करने लगोगे।

इसलिए ओ३म् का जप इतनी गहराई से करो कि शरीर आपूरित हो जाय। तब फिर शरीर में इसके जप की आवश्यकता न रहेगी। यदि मन आपूरित हो जाता है तो इसका जप करने की आवश्यकता नहीं रहती। यदि यह परिपूर्णता से उमड़ रहा हो तो कोई जगह नहीं बचती इसमें ज्यादा जाप उड़ेलने की। तब तुम पलायन नहीं कर सकते। केवल तभी इस अनाहद नाद का सुनना सम्भव होता है।

पतञ्जलि पूर्ण वैज्ञानिक हैं और रोगों को दूर करने के लिए योग-चिकित्सा का एक अनूठा उपाय बताते हैं। उन्होंने अपनी योग की प्रयोगशाला में इस शोध को अनेकों बार आजमा लिया और तब अपने सूत्रों के माध्यम से हमें बताया।

पतञ्जलि अद्‌भुत हैं। पतञ्जलि पूर्णतया विज्ञान की भाषा में बात करते हैं। वे ऐसा ही मार्ग दिखाते हैं जो साधक के लिये सम्भव है। उस रास्ते से चलकर हर व्यक्ति का रूपान्तरण हो जायगा। पतञ्जलि के योग सूत्र बिरले हैं, बेजोड़ हैं। ऐसी पुस्तक पहले कभी हुई ही नहीं और आगे कभी होगी ऐसी सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि आज योग-सूत्रों का जितना प्रसार व प्रचार संसार के हर देशों में है उतना अन्य दर्शनों का नहीं है। हम ऐसे महान वैज्ञानिक को नत मस्तक होकर प्रणाम करते हैं।

* * *

मैले शीशे में सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण मलिन और अपवित्र है उसके हृदय में ईश्वर के प्रकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता।

—रामकृष्ण परमहंस

# 卐 योग-निद्रा की साधना

❀ पण्डित श्री विजयानन्द जी त्रिपाठी

सकल दृश्य निज उदर मेलि,
सोवै निद्रा तजि जोगी।
सो हरि पद अनुभवै परम,
सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥
—तुलसी

प्राणी की स्वस्थावस्था समाधि है और शेष तीन अवस्थायें (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) अस्वस्थावस्था ही हैं। मन्त्र-योग, लययोग, हठयोग और राजयोग सबका एक-मात्र परम लक्ष्य समाधि है।

इन सब योगो में यम और नियम पहली सीढ़ी है, क्योंकि बिना इनके वात-पित्तादि दोषोंका वैषम्य मिटता ही नहीं। पांच प्रकार के यम और पांच प्रकार के नियम हैं। इन यम नियमों का सम्पादन बहुत ही कठिन है, इसीलिये समाधि भी असाध्य-सी हो रही है।

इन्हें दुस्साध्य देखकर पिछले काल के योगियों ने धातु-वैषम्य दूर करने के लिए नया मार्ग ढूँढ़ निकाला। वे नेति, धौति, बस्ति आदि से धातु-वैषम्य दूर करने लगे। इससे स्थायी फल तो नहीं होता, पर योग मार्ग के चमत्कारों की झलक आ जाती है, जिससे इतना लाभ तो अवश्य होता है कि शास्त्रों पर विश्वास हो जाता है।

इसके बाद आसन की बारी आती है। सूत्रकार ने तो इतना ही लिखा है कि 'स्थिर-सुखमासनम्'—जिस भांति सुख से स्थिर होकर बैठ सके उसी भांति बैठना चाहिए, पर महात्माओं ने ८४ आसन मुख्य रूप से नियत किये और इन सभी का बहुत कुछ उपयोग है। इनकी साधना से रोग-विशेष दूर होते हैं, व्यायाम का भी काम निकल जाता है। पर यह भी मुख्य प्रयोजन से बहुत दूर चले गये हैं।

मुख्य प्रयोजन आसन सिद्धि है। आठ घंटे तक एक आसन से बैठे रहने की योग्यता प्राप्त करने से ही आसन-सिद्धि होती है। आसन-सिद्धि होने पर अगली क्रियायें सरल हो जाती हैं। आपसे आप प्राणायाम होने (प्राण रुकने) लगता है और क्रमशः धारणा, ध्यान ही नहीं समाधि तक की सुलभ होती है, इतनी देर तक कौन बैठे? अतः बहुधा साधक बिना आसन सिद्धि के ही प्राणायाम का प्रारम्भ देते हैं।

बिना नाड़ी शुद्धि के प्राणायाम हो नहीं सकता। नाड़ीशुद्धि के लिए केवल रेचक-पूरक छः महीने तक करना पड़ता है। इसे बिना किये बलपूर्वक प्राणायाम करने में लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है, अनेक

प्रकार के रोग हो जाते हैं, जो दवा से नहीं छूटते।

जो महानुभाव इन बाधाओं का अतिक्रमण करके लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं, उनके चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ, पर इसमें संदेह नहीं है कि इनकी संख्या अत्यन्त विरल होगी। मैं आज पाठकों को श्री गुरु-चरणों से पाये हुए तथा अपने अनुभव किये हुए साधन को लिपिबद्ध करता हूँ।

× × ×

इस साधन में साधक यथासाध्य यम-नियमों का पालन करे, पर ब्रह्मचर्य का पालन तो सम्यक् रूपसे करे। यहां एक बार की चूक से छः महीने का परिश्रम मिट्टी हो जाता है। इस साधन में बड़ा भारी काम यह है कि साधक कुछ न करे, केवल अपने श्वास-प्रश्वास की गति का निरीक्षण किया करे।

इसमें रहस्य है कि हम लोग स्वाभाविक नियमानुसार श्वास ले नहीं पाते, मानसिक उद्वेगों के कारण उसकी स्वाभाविक गति में बड़ी बाधा पड़ती है – कहीं अस्वाभाविक रीति से उसकी गति तीव्र हो जाती है, तो कहीं शरीर के किसी भाग में रुक जाती है। यदि स्वाभाविक रीति से श्वास चलने पावे, तो अपने आपही प्राण की गति रुककर प्राणायाम हो जाय और समाधि की प्राप्ति हो।

इसके स्वाभाविक रीति से चलने देने का उपाय यही है कि मन को उसके साथ कर दे। उसकी गति में किसी प्रकार का विक्षेप न करे, केवल देखता रहे कि वह किस रास्ते से भीतर जाता है और कहां तक जाता है तथा फिर कैसे लौटकर किस रास्ते से बाहर निकलता है और कहां तक बाहर जाता है एवं फिर खिंचकर भीतर जाता है अर्थात् साक्षी होकर प्राणवायु के खेल देखे।

देखने के लिए भी श्वास-प्रश्वास की गति को न घटावे न बढ़ावे; यदि वह अपने-आपही घटे या बढ़े तो उसे रोके भी नहीं। बराबर इस बातका प्रयत्न रखे कि मन श्वास-प्रश्वास की गति का साथ छोड़कर हटने न पावे। यदि कोई बात मन में उठ जाये या कोई काल्पनिक दृश्य सामने आ जाये तो उसे हटाने की चेष्टा भी न करे, ध्यान श्वास की गति पर ही बनाये रखे। यदि मन वहां से हट जाय, तो फिर ले जाकर वहीं लगा दे :

श्वास के बाहर आते समय यह ध्यान करे कि वह 'र' उच्चारण कर रहा है और भीतर जाने के समय यह चिन्तन करे कि वह 'म' उच्चारण कर रहा है। इस भांति से श्वास-श्वास पर राम-नाम का जप भी होता रहता है। यथा —

तुलसी रा के कहत ही,
 निकसत सकल विकार।
पुनि आवत पावत नहीं,
 देत मकार किवार॥
 —तुलसी

गति देखने का प्रयत्न ही इस साधना का मूल है। पहले तो रास्ते का पता ही नहीं चलता कि वह किधर से होकर भीतर जाता है और किस रास्ते से बाहर निकलता है। फिर भी घबड़ाकर क्रिया न छोड़े, देखने का प्रयत्न बराबर करता ही रहे।

दस-पांच दिनोंमें उसे ऐसे रास्ते से आता-जाता मालूम होगा जो कि सर्वथा असम्भव है। पर इसमें भी घबड़ाने की बात नहीं है, उन असम्भव रास्तों से चलते हुए को ही देखता रहे। कभी श्वास का वेग बढ़ जायगा, तो उसे रोकने का भी प्रयत्न न करे। धीरे-धीरे उसे ठीक रास्ते से चलता हुआ मालूम पड़ने लगेगा। पर इस वास्ते भी उसे प्रयोजन नहीं, उसे केवल गति-निरीक्षण से प्रयोजन है।

आध घण्टे के अभ्यास से साधक साधन आरम्भ करे। जब एक घण्टे का अभ्यास हो जाय, तो एक घण्टे तक बैठकर अभ्यास करने के बाद शवासन से लेट जाय और अभ्यास करता रहे। एक घण्टे तक तो उसके सामने मनोराज्य के काल्पनिक दृश्य आते जाएँगे। उसके बाद ऐसे दृश्यों का उठना बन्द हो जाता है।

तत्पश्चात् क्या होता है, उसके कहने की आवश्यकता नहीं है; साधक स्वयं देखेगा कि क्या होता है ? पर जो कुछ दिखाई पड़े या अनुभव हो, उस पर ध्यान न देकर अपना काम करता ही रहे, अर्थात् श्वास की गति ही देखता रहे। श्वास की गति देखना ही इस साधन का आरम्भिक उपदेश है और यही अन्तिम उपदेश है।

इस अभ्यास में यदि हाथ या पैर एकाएक इधरसे उधर गिर जाय, तो फिर ठीक करले। इस प्रकार के विक्षेप से कोई हानि न होगी। किसी अवस्था में भी न घबराये और समझे कि भगवान् उसके साथ हैं, केवल अभ्यास करता चला जाये और वह यह है कि श्वास की गति देखने में फर्क न पड़ने पावे।

यदि कोई विचित्र बात देखे, तो फिर उसे देखने की इच्छा न करे। इच्छा करने से वह बात दूर चली जायेगी। अपने अभ्यास में लगे रहने से इस क्रिया से क्या नहीं हो सकता ! चौकी पर गुदगुदा बिछावन बिछाकर हल्का-सा तकिया लगाकर तब शवासन से लेटे। गर्मीके दिनोंमें मसहरी अवश्य लगावे, जिसमें मच्छर और मक्खियों से विक्षेप न हो।

इस बात की बहुत बड़ी चौकसी रहनी चाहिये कि अभ्यास के समय कोई शब्द न हो। अभ्यास के समय यदि किसी को जगाना ही हो तो बहुत मधुर शब्द से ऐसे बोले मानो कोई दूसरे से बातें कर रहा हो, साधक स्वयं जाग जायेगा।

हठात् किसी तीव्र शब्द के होने से साधक को प्राणभय उपस्थित हो सकता है। अभ्यास से उठने पर थोड़ा-सा घृत अवश्य खा लेना चाहिए। इस क्रिया से बहुत शीघ्र समान का भेदन होकर प्राणापान का ऐक्य होता है और योग-निद्रा का अनुभव होता है, जिसका वर्णन योगिराज श्री गोस्वामीजी ने पीछे दो पदों में किया है।

साधक यदि खेचरी मुद्रा जानता हो तो इस साधन में बड़ी सहायता मिलती है। इस साधन में कभी-कभी निद्रा भी लग जाती है और नये साधकको यह निश्चय करना कठिन पड़ जाता है कि उसे निद्रा लग गई या समाधि हुई। यदि वह खेचरी मुद्रा जानता होगा तो उसे निर्णय करने में कोई कठिनता नहीं होगी, क्योंकि उसे निद्रा लगते ही खेचरी खुल जायगी और यदि समाधि होगी तो खेचरी और भी दृढ़ता से बद्ध हो जायगी। यह कठिनाई प्रारम्भ में ही रहती है। समाधि लगना प्रारम्भ हो जाने पर साधक को स्वयं पहचान होने लगती है। अतः इस क्रिया में खेचरी की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। अनिवार्य आवश्यकता है ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और उत्साह की।

—※—

## ❀ अनुभवानुरूपमर्थस्य स्मरणं स्मृतिः ❀

अनुभव के रूप अर्थ का स्मरण होना स्मृति है। पहले कभी इन्द्रियों के द्वारा जैसा जाना था वैसा ही स्मरण होना स्मृति कहाता है। जैसा कोई पदार्थ देखा सुना जाये, पदार्थ के न रहने पर भी वह वैसा ही जान पड़े—यह स्मरण है। कैमरे की प्लेट पर हाथी का मात्र आकार ही आता है और वह भी उतना बड़ा जितनी बड़ी प्लेट। किन्तु मन की प्लेट पर हाथी उतना ही बड़ा अंकित होता है जितना बड़ा देखा जाता है। कैमरे की प्लेट पर आम का केवल आकार बनकर रह जाता है, परन्तु जब हमें खाये हुए आम का स्मरण होता है, तो उसके रूप, रंग, आकार और स्वाद, गन्ध आदि सभी का मानस प्रत्यक्ष होता है। जब किसी मित्र का स्मरण होता है, जो हमें एक सप्ताह पूर्व मिला था तो उसके रूप-रंग, वेष-भूषा, अंगों का संचालन, बातचीत आदि सब वैसा ही दिखाई-सुनाई देने लगता है। जैसा मिलते समय देखा-सुना था। इस प्रकार अतीत का ज्यों का त्यों स्मरण होना ही स्मृति कहाता है।

—योग मार्ग का एक पथिक

पूर्व प्रकाशित से आगे—

# 卐 उपासना

卐 ब्रह्मचारी श्री सूरज प्रकाश शर्मा

पिछले लेखों में आपने उपासना का अर्थ, महत्त्व, पद्धति, मूल-तत्त्व, भेद तथा फल आदि सहित अन्य महत्वपूर्ण बातों का अवलोकन किया। अब उपासना का मूल आधार "शुचि व वेष" दर्शाया जायेगा।

उपासना की सफलता पवित्रता पर आधारित है। शुचि-वेष उपासना का मूल आधार है, लेकिन आजकल के समय में अपनी वैदिक संस्कृति के विस्मरण और पश्चिमी संस्कृति के अपनाने के कारण स्वयं साधक स्वतः जो चाहते हैं, उसे ग्रहण करते हैं तथा इस पवित्र मार्ग पर जैसा शास्त्रानुसार चाहिए वैसा नहीं बरतते। यह बात बहुत ही अनुचित और बुरी है। यह अति शोचनीय है तथा समझाने की बात है कि यदि किसी मकान की नींव सुदृढ़ व ठीक प्रकार से न बनी हो, तो उस पर अति सुन्दर हवादार ऊँचा मकान टिकाऊ नहीं हो सकता कदापि नहीं। ठीक इसी प्रकार शुचिताहीन वेष उपासना चाहे कितनी ही सांगोपांग, कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो, उसमें निहित मूल-भूत दोष सारी उपासना में शुचिता के अभाव के कारण उपासना को कभी भी शास्त्रानुकूल नहीं रहने देंगे और यह परम सत्य है कि शास्त्रानुसार न की गई उपासना तामस होने के कारण कदापि कल्याणकारक नहीं हो सकती। तथा'—अधो गच्छन्ति तामसः'–(गीता) जैसी गति होती है।

शास्त्र के अनुसार उपासना का मूल आधार शुचित्व होने के कारण उपासना के पहिले स्नान, वस्त्र, शुचिता, आसन, स्थान आदि शास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन करने पर यह अति आवश्यक दीखती है। आप देखेंगे कि 'शुचिता' का सम्बन्ध उपासना के साथ कितना कैसा प्रभावशाली व महत्वपूर्ण है।

उपासना में वेष का स्वतः एक विशिष्ट स्थान है। कौपीन, यज्ञोपवीत, धोती उत्तरीय वस्त्र, शिखा—ये उपासक के वेष होते हैं। साकार परमात्मा का दर्शन योगी लोग अपनी दिव्य-दृष्टि से करते थे। उन्होंने अनेक देवताओं को सगुण आकार वेष धारण किये हुए देखा था। ब्रह्मा जी को यज्ञोपवीत के साथ सगुण आकार धारण किये हुए देखा। यज्ञोपवीत के पवित्र मन्त्र से ही यह सिद्ध होता है यथा—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं,
प्रजा-पतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं,
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥
( ब्रह्मोपनिषद )

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, प्रजापति ईश्वर ने इसे सबके लिए सहज बनाया है। यह आयुवर्द्धक, स्फुरतिदायक बन्धनों से छुड़ाने वाला एवं पवित्रता, बल और तेज देता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि देवता, देवियों के स्वाभाविक वेष, उनकी संस्कृति भाषा सब दैवी होने के कारण परम पवित्र हैं। आत्मिकउन्नतिके साधन होने के कारण हमारे पूर्वज योगियों ने इसका अनुकरण किया और दूसरों से करा करके उनको उन्नत बनाया। विशिष्ट वेष धारण का एक और अति पवित्र उद्देश्य यह है कि अपने मन-पसन्द की कोई बात जब दूसरा पसन्द या अङ्गीकार करेगा, तो वह सहज ही अपना प्रिय बन जायेगा। यह सिद्धान्त मनोविज्ञान की दृष्टि से सुस्पष्ट है। इसी प्रकार वैदिक संस्कृति में प्रचारित वेष-धारण करने से वेद-वर्णित देवता अति प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वह उनको पसन्द का है।

उपासना का हेतु क्या है? देवता को प्रसन्न कर वरदान प्राप्त करना ही तो है? इसलिये बात छोटी हो या बड़ी, कैसे भी हो, देवता को प्रसन्न करने के लिए बचपन से ही वह बात अवश्य ग्रहण करने योग्य होती है। वेश धारण करने की साधना में तत्वतः छोटे-बड़े भाव न होने के कारण उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—मन्त्र जाप, वेष, पूजा, ध्यान योग, स्तुति इत्यादि कोई भी साधन हो, वह बाह्य होने के कारण दृश्य हो या आन्तरिक होने के कारण अदृश्य हो तथापि साधना की दृष्टि से इसका अपना महत्व है।

आचारः प्रथमो धर्मः, अथवा आचारः परमो धर्मः।

इत्यादि शास्त्र वचनों के द्वारा आचार धर्म-पालन उपासक के लिये अनिवार्य हो जाता है।

गीता में भगवान् श्री कृष्ण स्वयं श्रीमुख से योगी के अभ्यास के लिये आसन का वर्णन करते हैं। यथा—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य,
स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं,
चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
(गीता ६/११)

अर्थात् शुद्ध भूमि में कुशा मृगछाला और वस्त्र है। उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा,
यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्या-
द्योगमात्मविशुद्धये ॥
(गीता ६/१२)

और उस आसन पर बैठकर तथा मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किया हुआ अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

इससे यह सुस्पष्ट है कि जो वेष वेदों में प्रशंसित हैं, देवताओं को प्रिय लगने वाला है, उसे ही धारण करना चाहिये। क्योंकि—

वस्त्रोपवस्त्रे शुद्ध अकार्षीत ।

विशुद्धता का तत्त्व स्वच्छता और पवित्रता दोनों पर अवलम्बित है। पवित्रता का आशय है "बाह्य शुद्धता" और आन्तरिक शुद्धता।

बाह्य शुद्धता शारीरिक आरोग्यता के लिये है और आन्तरिक शुद्धता से मानसिक आरोग्यता बनी रहती है। उपासना मुख्यतः आन्तरिक उन्नति--साधन के लिए होती है। केवलमात्र बाह्य स्वच्छता से काम नहीं चलता। इसलिए जल-वस्त्रादि सारे उपासना के साधनों को पवित्र बनाये रखने पर ही लक्ष्य होना चाहिए।

प्राणी और जड़ पदार्थ अपने विशिष्ट गुण-धर्म से आवेष्ठित होते हैं। इसके साथ परिवर्तनशील संस्कार के कारण यह आवेष्ठन अनित्य होता है। इन दोनों के मिलने से एक वलय तैयार होता है। उस वलय में उलट-फेर, अच्छे-बुरे, गुणकण, कार्यरत रहते हैं। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्पर्क होने पर उनके पारस्परिक वलय का मिश्रण होता है और उनसे संकर वलय का निर्माण होता है। इसमें जीव-दृष्टि से वैचारिक और वैकारिक परमाणुओं के कम-ज्यादा होने पर त्रिगुणों का चालन अनेक प्रकार की शक्तियों के रूप में चालू हो जाता है। उसके द्वारा दैवी-शक्ति को हानि करने वाले वलयों के गुण "अशुद्धिकर" होते हैं। इसके विपरीत अच्छे गुणों से युक्त परमाणु "शुद्धिकर" होते हैं।

विज्ञ मनुष्य जानते हैं कि "आचार" प्रत्यक्षतः जानने में आता है और "विचार" परोक्षतः। लेकिन इसके दूसरी ओर भौतिक कक्षा के परले क्षेत्र में जो कुछ चल रहा है, वह सामान्यतः दृष्टिगोचर नहीं होता और न जानने में आता है। केवल मात्र उस क्षेत्र में प्रकृति के और शक्ति के परिणाम होते रहते हैं। यह गूढ़ तत्त्व बहुत ही महत्त्व का है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया क्रिया से जो सङ्घर्ष पैदा होता है, उस सङ्घर्ष में दैवी-गुणों का ह्रास होना स्वाभाविक है। उसको पलट कर दैवी गुणों की वृद्धि करना विशिष्ट—

विधि द्वारा ही हो सकता है। यहां विचार शक्ति कारागार नहीं हो सकती, यह एक महत्त्व की बात है। इस विधि का आधार आचार-धर्म पर रहता है। अर्थात् विशिष्ट प्रकार से किये जाने वाले स्नान, आचमन, शुद्धि कर्म, दैवी गुणों के उदय के लिए, पवित्रता के लिए अर्थात् शुचिकरणार्थ साधक होते हैं। इस शुद्धि का उद्देश्य यह होता है कि अशुद्ध वलय शुद्ध होकर दीप्तिमान हो उठें तथा शुद्ध होने के बाद वह अधिक पुण्यशील गुणों से युक्त हों। शुचित्त्व का रहस्य निश्चयपूर्वक इसी में निहित है।

उदाहरणतः जैसे कोई रोगी मनुष्य है। उसमें अशुद्ध कीटाणु उसे जकड़े हुए हैं। रोगी का इलाज अशुद्ध कीटाणुओं की विधि औषध द्वारा शुद्ध करके स्वस्थ बनाया जाता है, लेकिन सर्व प्रथम शुद्धि की चेतावनी डाक्टर लोग देते रहते हैं कि सफाई रक्खो।

सारांश यह है कि भौतिक आरोग्य दृष्टि से स्वास्थ्य शास्त्र का जो महत्त्व है, वैसा ही दैवी-स्वच्छता के लिए, आरोग्यता के शास्त्र के अनुसार शुचिता का महत्त्व है।

तात्पर्य यह है कि स्वच्छता अर्थात् भौतिक शुद्धि और शुचित्त्व (दैविक) दोनों घटकों के मिलने से 'शुद्धि' तत्त्व पूर्ण होता है।

उपरोक्त दृष्टि से वेद में रेशमी वस्त्र, टसर या सूती धौत-वस्त्र शुद्ध माने गये हैं। अशुद्धि को क्षीण करने की प्रक्रिया को शुद्धिकरण तथा अशुद्धि की क्षीणता के आगे शुद्धता की दृढ़ता को पवित्रीकरण कहते हैं। धर्म-शास्त्रों के द्वारा ये दोनों ही प्रशंसित गुण, जल और वस्त्रादि में रहते हैं। इनके द्वारा उन वलयों में सत्वगुण के परमाणु और सात्विक शक्ति संक्रमित होकर उनको दिव्य और तेजस्वी बनाते हैं। यही दिव्यता और तेजस्विता उपासना के लिए नितान्त आवश्यक होती है।

सूती वस्त्र नित्य रोज धोना चाहिए। सूक्ष्म-प्रज्ञा होने पर जो जानना चाहो वह जान सकते हो। इस प्रकार की विद्युत्-तेज के द्वारा इनमें स्थित सुप्त शक्ति का अनुमान हो सकता है। इस प्रकार की सुप्त-शक्ति, कृष्ण मृग-चर्म, दर्भ, पञ्च-पल्लव, पञ्च गव्य, गङ्गोदक आदि में पर्याप्त मात्रा में रहती है। अतः विधियुक्त उपासकइनके द्वारा आत्मोद्धार करके जनता का मार्ग-दर्शक बन जाता है।

कागद कैसे नोट हैं, गुन बिन पुरुष कुलीन।
बिकें बिराने देश में, नहिं कौड़ी के तीन।।

—वृन्द कवि

# 卐 ओ वैरागी !

❀ श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमियां

**ओ वैरागी !**

नारी की वृथा निन्दा न कर,
क्योंकि यह अनुचित अनर्गल प्रलाप,
तेरे विकारों की ही करुण कहानी है ।

नारी जगत की मरुस्थली में,
प्रेम और तपस्या की स्वर्गंगा है,
जिसके पावन स्पर्श मात्र से त्रिताप शान्त होते हैं,

वह सौन्दर्य क्षुधा है,
जिसे पानकर मानव देवत्व प्राप्त करता है,
वह वेदों की पुनीत स्वर लहरी है,
जिसे सुनकर श्रोता अपने को भूल जाता है ।
वह गृहस्थाश्रम के दुर्ग की—
अधिष्ठात्री देवी दुर्गा और गज लक्ष्मी है,
जिसके आशीर्वाद से मनुज षड़-रिपुओं पर,
विजय प्राप्त करता है ।

वह संसार सागर को सुगमता से पार करने के लिए,
विरञ्च निर्मित स्वर्ण तरी है ।

वीतरागिन !
अनिन्द्य किन्तु वन्द्य नारी की निन्दाकर—
अपनी चित्त-वृत्तियों को कलुषित न कर,
क्योंकि ब्रह्म-योनि ही जगत की सर्जिका है ।

पूर्व प्रकाशित से आगे—

# 卐 निजानुभूतियाँ

❀ श्री महेन्द्रनारायणसिंह, कोटपर बरैनी, मिरजापुर

## पत्र द्वारा गुरु-शक्तिपात का सुपरिणाम

गत फरवरी सन् १९६६ ई० में परम कृपा-निकेतन श्री गुरुदेवजी का काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में योग-प्रचारार्थ एक सप्ताह का कार्यक्रम निश्चित होचुका था। विश्वविद्यालय की ओर से विधिवत् निमन्त्रण भेजने की कुछ विभागीय कार्यवाही शेष थी। वहां पर प्रभुजी के निवास, सभा-स्थल प्रवचन मञ्च आदि की व्यवस्था देखने के लिये कछवा के आदरणीय गुरु-भाई श्री विजयसिंह (उपनाम टिन्नू) एम० एस० सी० को साथ लेकर १८ फरवरी को विश्व-विद्यालय के कुलसचिव (रजिस्ट्रार) से उनके बंगले पर जाकर मैं मिला। कुलसचिव श्री काशी नरेशलाल जी बड़े ही मृदुभाषी, मिलनसार एवं धार्मिक प्रवृत्ति के हैं। श्री गुरुदेव भगवान के बड़े ही कृपापात्र भक्तों में से हैं। दयासागर ने उन्हें कृपापूर्वक ध्यान की उच्चतम स्थिति प्रदान की है। श्रीचरणों की असीम कृपाओं का वर्णन करते हुये उन्होंने बताया कि गुरुदेव के कमलवत् चरणों का स्थूलवत् दर्शन तो प्रथम मुझे गत २१ जनवरी को प्रभुजी के कलकत्ता के कार्यक्रम पर आते समय मुगलसराय रेलवे जंक्शन पर रात में हुआ। इसके पहले मैंने श्री सिद्धगुफा प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हो रही मासिक पत्रिका 'सिद्ध-योग' में अनाथनाथ द्वारा लिखे गये विशेष लेखों में मन की एकाग्रता के उपायों को पढ़ कर लगनपूर्वक उक्त नियमों का क्रियात्मक प्रयोग करना प्रारम्भ किया। श्री गुरुदेव जी की कृपा से मुझे कुछ ही दिनों में दिव्यानु-भूतियां होने लगीं, जिन्हें प्रार्थना-पत्रों द्वारा मैं गुरु-चरणों में निवेदन करता रहता था। पहले ध्यान में श्री गुरुदेवजी का तथा बाद में भगवान सदाशिव का दर्शन होने लगा। अपने ध्यान में कैलाश दर्शन का वर्णन करते हुए उन्होंने सभी को आश्चर्य-चकित कर दिया। बताया कि मुझे ध्यान में कैलाश पर्वत जैसा विस्तार देखा, ध्यान से उठकर मैंने सारा पैमाना लिख लिया। इसके पश्चात् पुराने कागजातों को इस विचार में ढूंढ़ना प्रारम्भ किया कि शायद कहीं इस ढंग से खोजे गये कैलाश के आकार-प्रकार का पता चल जावे तो अपने ध्यानानुभव से मिलान करूँ। दैवयोग से अंग्रेजी शासन-काल में वायुयान द्वारा कैलाश की सर्वे की रिपोर्ट पुरानी फाइलों में प्राप्त हो गई। मैंने अपने ध्यान में देखकर

लिखी नोट से मिलाया, तो दोनों एक प्रकार की थीं। हालही में हुआ अपना दूसरा ध्यानानुभव भी रजिस्ट्रार महोदय ने बताया। उनका एक पुत्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु सपत्नीक अमेरिका गया हुआ है। उस लड़के ने पत्र द्वारा कुल-सचिव महोदय को सूचना दी कि यहां वहां अमेरिका में उसकी धर्मपत्नी को एक कन्या-रत्न की प्राप्ति हुई है। उक्त समाचार प्राप्त होने पर दूसरे दिन प्रातःकाल रजिस्ट्रार महोदय ने ध्यान में बैठने पर श्री गुरुदेवजी से मानसिक प्रार्थना की कि हे सर्वशक्तिमान अन्तर्यामी दयासिन्धु! अमेरिका में उत्पन्न नवजात पौत्री को मुझे ध्यान में दिखा देने की अनुकम्पा कीजिए। भक्त-भवभयहारी कृपासागर ने मेरी मूक प्रार्थना चरितार्थ कर दी। ध्यान में प्रथम कुछ देर तक श्रीगुरुदेव जी का दर्शन होता रहा। पुनः अमेरिका के उक्त कमरे का सारा दृश्य होने लगा।

ध्यान से प्रसन्नतापूर्वक उठकर मैंने समुद्री तार द्वारा अपुत्र को अमेरिका में सन्देश भेजा कि नवजात पौत्री तथा उसके निवान-कक्ष का कई चित्र खिचवाकर शीघ्र भेजो।

गुरुजी ने ध्यान में पौत्री का जैसा स्वरूप दिखाया था, अमेरिका से भेजे गये चित्रों से ज्यों का त्यों मिल रहा था, पर कमरे की वस्तुएँ जो ध्यान में देखा था चित्र में कुछ कम थीं। मैंने पत्र द्वारा अपने लड़के से पूछा कि उस कमरे में अमुक-अमुक वस्तुएँ और हैं या नहीं। मेरे पुत्र तथा पुत्रवधू के अपने पत्रोत्तर में उक्त वस्तुओं का उस कमरेमें होना स्वीकार करते हुए साश्चर्य पूछा कि पिताजी! आपको उन वस्तुओं के होने का पता कैसे चल गया। उन्हें क्या पता था कि जगत-नियन्ता की असीम चरण-छाया उनके भाग्यशाली पिता पर अनवरत पड़ रही है, जिसके कारण उच्च ध्यान की स्थिति बनी हुई है।

## ध्यान में प्रार्थना करने पर तत्काल गुरु-कृपा वर्षा

मीरजापुर जिलान्तर्गत बरैरी ग्राम के निवासी श्री सभाजीतसिंह जी गौतम अनन्त कोटि योग-योगेश्वर परम सद्गुरु श्रीचंद्रमोहन जी महाराज के युगल पाद-पद्मों के बड़े ही श्रद्धालु एवं मूक भक्त हैं। अनन्तजी ने बरैनी पधारने पर आरती, पूजन, कीर्तन, प्रवचन आदि प्रत्येक कार्यक्रम में खूब भक्ति-भाव से सम्मिलित रहते हैं। भौतिक रूप से अभी तक बाबू साहब देवाधिदेव से दीक्षा नहीं लिये हैं। लोगों द्वारा दीक्षा न लेने का कारण पूछने पर बताते हैं कि जगतवंद्य श्री गुरुदेव जी ने अपने पावन प्रवचन में आदेश दिया है कि—

## मन्त्र मूलं गुरुवाक्यं

गुरुदेव जी के श्रीमुख से निकला वाक्य

ही गुरु-मन्त्र है, इसी आदेश का मैं यथा साध्य पालन करता हूँ। जगदाधार ने प्रवचन-सभा मण्डप में जो मन्त्र सर्व साधारण को बताया है, विश्वासपूर्वक मैं उसी का जप करता हूँ। तथा दयानिधि का ध्यान करता हूँ। वैसे गुप्त रूप से मनीआर्डर द्वारा दक्षिणा अर्पण, गुरुचरण गान, प्रार्थना, पत्रादि यदाकदा श्रीचरणों में अर्पण किया करते हैं। अहैतुकी कृपा के दाता की उन पर कृपा-वर्षा भी अनवरत होती रहती है। देवाधिदेव ने उन्हें कृपापूर्वक उच्च ध्यान स्थिति प्रदान की है। प्रायः उन्हें दिव्य-दर्शन हुआ करते हैं। गत १६६६ ई० के फागुन मास में श्री सभाजीतसिंह के सभी पौत्रियों एवं एकमात्र पौत्र को चेचक का भीषण प्रकोप हुआ। बच्चों के सारे शरीर में बड़े-बड़े दाने निकल आये, भीषण ज्वर भी रहता था। कुछ दिन इसी प्रकार बीतने पर सभी की आंखें बन्द हो गईं। बेहोशी में वे सब गुमसुम पड़े रहते थे, शरीर क्षीण होने लगा, लक्षण बुरे दीखने लगे, परिवार के सभी लोग भावी आशङ्का से घबड़ाने लगे। इसी भय-मिश्रित घबराहट में एक दिन बाबू साहब ध्यान में बैठे। कुछ देर बाद उन्हें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज उनके पौत्र एवं पौत्रियों को प्रसाद वितरण करते हुए दर्शन देने लगे। इधर कई दिनों से लेटी-लेटी उनकी पौत्री भी उठकर बैठ गई तथा जोर से कहने लगी— देखो! दाढ़ी वाले बाबाजी आये हैं, प्रसाद दे रहे हैं। भइय्या तुम भी ले लो, छोटी मुन्नी को बाबाजी प्रसाद नहीं दे रहे हैं। उक्त बातें कहते हुए दाहिने हाथ की बँधी मुट्ठी बार-बार मुँह के पास ले जाकर मुँह चलाते हुए प्रसाद खाने का उपक्रम कर रही थी। श्री सभाजीतसिंह ने भी ध्यान में देखा कि महाप्रभु जी उक्त बच्ची को प्रसाद नहीं दे रहे हैं, शेष सभी को कृपा-प्रसाद देकर चले गये। ध्यान से उठने के बाद उन्होंने सब कृपा-लीलायें घर वालों को बतायीं। उसी समय से सभी बच्चों की हालत पूर्ववत् रही तथा कुछ दिन पश्चात् उसी बच्ची की मृत्यु हो गई। शेष सभी बच्चे अच्छे होकर गुरु-कृपा से अभी तक सानन्द हैं, कोई भी अङ्गहीन नहीं हुआ। हां, चेहरे एवं शरीर पर घाव के बड़े-बड़े दाग अभी तक विद्यमान हैं।

卐

"वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते, निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्" ॥

अर्थात् "विषयी लोगों के मन में, वन में भी विकार उत्पन्न होता है, पंचेन्द्रिय-निग्रह-रूपी तप घर में भी सम्भव है, जिनकी बुद्धि शुभ कर्मों में लीन है उन रागासक्ति रहित व्यक्तियों के लिए तपोवन और घर समान है।"

# 卐 ज्ञानोत्कर्ष

ॐ श्री पन्त महाराज बालेकुन्द्रीकर

सत्कर्म से संसार नामक जननादि बन्ध परिहार हो नहीं सकता। अपने आपको जान लिया जाये तो, मुक्ति होती है। अपना विस्मरण वही बन्ध है। यह दृश्य जग मिथ्या है। ऐसा जान लेने के बाद के कर्म स्वप्न के पुत्र की सन्तोष से मन में ही जात-कर्म बताये जैसे हैं। हमारा अपने में रहने वाला देह-भाव नष्ट हो गया, तो निर्मल मुक्ति होती है। कर्म ही देह का मूल है। कर्म से ही भवबंधन, ऐसा होते हुए वैसे कर्मों से मोक्ष साधन कैसे होगा? कर्मफल—(१) उत्पाद्य, (२) प्राप्य, (३) वैराग्य, (४) संस्कार, इस प्रकार के कर्म हैं। इनमें निज मुक्ति नामक कर्मफल एक भी नहीं। घट पुर कुण्डल दर्पण इन्हें जोड़कर किया गया है। ऐसा उसे किया ही गया होने के बाद उनके विषय में "अच्छा किया, पुष्कल (अधिक) प्रकाश डाला गया" कहे, जैसा इन चार फलों का अनुभव जानना चाहिए।

ऊपर बताये गये कारण से, अति परिशुद्ध कल्मष-रहित, सर्वेश्वर, ऐसा नित्यात्मा हमें छोड़कर अन्य कोई नहीं। हमारे व्यतिरिक्त सकल दृश्याकार मिथ्या ही है। नित्य-प्रद मुक्ति कर्मफल कहना मिथ्या है। अपने आपको जान लिया जाये तो मुक्ति कहलाती है। जैसे दीप बिना अन्धकार का नाश होता नहीं, वैसे कोट्यावधि सत्कर्मों से भवबन्ध का नाश नहीं हो सकेगा। केवल अपने आपको जान लिया जाये तो बन्धन-नाश होता है। स्थाणु में चोर-भ्रांति उत्पन्न होने वाली भीति-निवारणार्थ, उनका निज स्वरूप न जानकर कोई अमल (नशा) लिया तो क्या शान्ति मिलेगी? उसी प्रकार तिरस्कार का कारण ऐसी अविद्या, अपने आपको जाने बिना सत्क्रिया से नष्ट हो नहीं सकेगी।

कर्म अनेक होते हुए उन कर्मों में से एक कर्म से हमें मोक्ष मिलता है। ऐसा कहें तो बाकी के कर्म निरर्थक हो गये। एक कर्म से अथवा सब कर्मों से अद्वय आत्मा की मुक्ति, यह कहना असह्य है। इसलिए कर्म या मुक्ति के साधन नहीं, यह सिद्ध है।

"सर्व कर्मों में हमें यत्किंचित भी मुक्ति-साधन कार्य नहीं" ऐसा जानने वाला महानुभवी ही योगी कहलाता है और हमें अमुक कर्म करना है, यह जड़ भाव से जानने वाला मूढ़ है। ज्ञान की अहंभाव-जनित क्रिया नष्ट हुए बिना मुक्ति नहीं। ऐसा होते हुए उत्तम योगी क्या भूलकर भी अविचार की क्रिया करेगा। धर्म अधर्म ये दोनों हमारी उत्पत्ति

## 卐 सिद्धगुफा के सिद्धेश्वर

❀ श्री रामसजीवनसिंह, इलाहाबाद

❀ सिद्धगुफा के सिद्धेश्वर हो, सिद्ध योग पथ-दर्शाया।
ना जाने कितने भक्तों की, कर दी है निर्मल काया॥
नैराल धाम से निज बच्चों हित, धाम सवाई में आये।
सुगम सरलतम् मार्ग योग के, सब लोगों को बतलाये॥

❀ शक्तिपात से भक्ति दान कर, ध्यान समाधी दे डाली।
जिसके मन में आप बस गये, उसने तो मुक्ती पा ली॥
हो गृहस्थ या हो विरक्त, सबकी पुकार सुन लेते हो।
जिसकी जैसी श्रद्धा हो, उसकी झोली भर देते हो॥

❀ मंगामल की बुद्धि शुद्ध कर, धन अरु प्राण बचाया था।
जो केवल निज स्वार्थ भाव से, दर्शन करने आया था॥
अपने भक्तों के शिष्यों की, रक्षा का भी भार लिया।
नन्दलाल को नव जीवन दे, सारा संकट काट दिया॥

❀ जातिपांति का भेदभाव भी, नहीं कभी कुछ रखते हो।
शरणागत के शुद्ध हृदय को, अच्छी तरह परखते हो॥
'सिद्धगुफा' की सु रज रूस के, दो निवासियों ने चाटी।
निज अनुभव से लिखा रूस में, नहीं मिली ऐसी माटी॥

❀ किया परीक्षण भी मशीन से, नहीं समझ कुछ भी आया।
उन्हें पता क्या योगशक्ति का, अन्त कहां किसने पाया॥
जिज्ञासू को योगामृत का, प्याला तुम्हीं पिलाते हो।
सिद्धों के हो सिद्ध महाप्रभु, "रामलाल" कहलाते हो॥

❀ मेरे प्रभु "चन्द्रमोहन जी", चरित आपके गाते है।
परम प्यारे शिष्य आपके, योगेश्वर कहलाते है॥
मैं भी छोटा शिष्य उन्हीं का, क्या वंचित रह जाऊंगा ?
या जीवन में कभी आपका, कृपा पात्र बन पाऊंगा॥

[ पिछले पृष्ठ का शेष ]

के लिए कारण होने से उन्हें भी कर्म विषयक धर्म ही कहा है, ऐसा जाने। धर्माधर्म रूपी कर्माचरण से पुण्य-पाप प्राप्त होते हैं। इनमें पहले वाले से पुण्य फल पुण्य देता है, बाद में पाप-फल दुःख प्राप्त होता है। विचार से देखें तो पुण्य फल यद्यपि अन्त में अल्प सुख में रखता है। पुण्य-पाप इन दोनों के अनुभव काल में उनकी परीक्षा की तो पुण्यफल अधम अति दुःखप्रद होता है। इसलिये कर्म से धर्मा-धर्म उत्पन्न होकर उनसे पुण्यापुण्य उत्पन्न होकर उससे स्वर्ग-नरक में सुख-दुःख द्वन्द्व अनुभव करने को लगाकर जन्म-मरण के फेरे में गिरना पड़ता है। इसलिये कर्म-त्याग से ही मुक्ति होगी, इसके बिना नहीं।

# ॐ मामेकं शरणं व्रज

● श्री मनमोहन कृष्ण त्रिखा

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में कहा है कि जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण नहीं करते उनके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं लेकिन राग नहीं होते। राग उस व्यक्ति को जकड़े ही रहते हैं। रागों की निवृत्ति परमात्मा के साक्षात्कार से ही होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने इस तथ्य को निम्नलिखित श्लोक में भली प्रकार से स्पष्ट किया है—

विषया विनिवर्तन्ते
निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य
परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अगर हम अपने समस्त राग-द्वेष समाप्त कर देना चाहते हैं तो हमें परमात्म-साक्षात्कार करना होगा। अब यह प्रश्न उठता है कि हमें भगवान के दर्शन कैसे हों? या हम किस प्रकार आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान पतञ्जलि ने एक उपाय बताया है—योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः (समाधिपाद २)। अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करने पर योग की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि चित्त की वृत्तियां अगर पूरी तरह से शान्त हो जायें तो आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

जब हम अपने सन्तों की वाणियों की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें पता चलता है कि सन्तों ने इच्छाओं को ही दुःख का मूल कारण और आत्म-साक्षात्कार में एकमात्र रुकावट बताया है। यह एक सन्त की इस वाणी से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है—

चाह चमारी चूहड़ी, चाह नीच तो नीच ।
तू तो पूर्ण ब्रह्म था, जो चाह न होती बीच ॥

इस चाह या इच्छा ने ही हमारे और परमात्मा के बीच एक दीवार खड़ी कर रखी है। अगर यह दीवार गिर जाये तो आत्म-साक्षात्कार हो जाये। मनुष्य के सामने एक बड़ी कठिनाई यह है कि उसकी इच्छायें अनगिनत हैं। अगर हम मनुष्य के व्यावहारिक पक्ष पर एक नजर डालें तो हमें यह जानकारी मिलेगी कि यद्यपि हमारे इच्छायें बहुत हैं लेकिन कुछ इच्छायें बहुत प्रबल और सबमें विद्यमान हैं। इनमें से दो प्रमुख इच्छायें ये हैं—(१) प्रत्येक व्यक्ति यह इच्छा रखता है कि सभी परिचित व्यक्ति (चाहे वह मित्र हो, रिश्तेदार हो या

कार्यालय का साथी हो ) उसकी इज्जत करे और (२) यही परिचित समाज उसकी बातें माने उपर्युक्त इच्छायें सभी व्यक्तियों में अमीर, गरीब, बूढ़ा, जवान, स्त्री पुरुष में पाई जाती है आइये इन इच्छाओं के बारे में हम अपने आप से यह प्रश्न करें—क्या हम अपनी इज्जत स्वयं करते हैं ? दूसरे शब्दों में—क्या हम यह समझते हैं कि हमारे में ऐसे गुण हैं ( जैसे सत्य बोलना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ध्यान-भजन आदि ) जिसकी प्रशंसा या इज्जत हम स्वयं कर सकें। अगर हम अपनी इज्जत स्वयं करते हैं अर्थात् अगर हम में वे गुण हैं जिनकी इज्जत हम स्वयं कर सकते हैं तो हममें बाहर से (बाहरी समाज से) इज्जत कराने की इच्छा ही नहीं रहेगी। ऐसा होने पर हम इस बात की आवश्यकता ही महसूस नहीं करेंगे कि हमारा परिचित समाज हमारी इज्जत करे। इस प्रकार के गुण होने पर यद्यपि हमारी इच्छा तो नहीं होगी कि परिचित समाज हमारी इज्जत करे लेकिन फिर भी यह समाज हमारी इज्जत अवश्य करेगा। अब हम अपने आप से दूसरा प्रश्न करें—क्या हमारी इन्द्रियां हमारा कहना मानती हैं ? अर्थात् जब हम चाहें तभी गुस्सा आये, नहीं तो न आये। यही काम आदि के बारे में कहा जा सकता है। यदि हमारी इन्द्रियां हमारा कहा मानती हैं तो हमारी परिचित समाज से कहना मनवाने वाली इच्छा समाप्त हो जायेगी। ऐसा होने पर यद्यपि हम तो परिचित समाज से कहना नहीं मनवाना चाहेंगे, लेकिन फिर भी यह समाज हमारा कहा मानने को तत्पर रहेगा। खैर इन इच्छाओं के विषयों यहीं समाप्त कर देना उचित होगा क्योंकि हमें तो इच्छाओं को समाप्त करने उपायों की खोज करनी है।

अब हमारे सामने प्रश्न है—इच्छाओं को कैसे समाप्त किया जावे ? चित्त-वृत्तियों का किस प्रकार से निरोध किया जाये ताकि आत्म साक्षात्कार हो सके। भगवान श्रीकृष्ण ने योगियों के कोर्स को बताते हुए कहा है कि योगी पहले अपनी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे, फिर मन एवं बुद्धि का, तत्पश्चात् आत्म-तत्व का साक्षात्कार करे। यह कोर्स कुछ कठिन है और लम्बा भी। आत्म-साक्षात्कार का एक बहुत ही सरल उपाय भगवान श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में बताया है—

**सर्व धर्मान्परित्यज्य**
**मामेकं शरणं व्रज।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो**
**मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**

अर्थात् हे अर्जुन, तू सब धर्मों को त्याग-कर ( धर्मों के आश्रय को त्याग कर ), मेरी शरण में आजा। तू किसी प्रकार का शोक मत कर। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा। यह वचन ब्रह्माण्ड-नायक श्रीकृष्ण जी के हैं

जिसका पालन करना हम सबका कर्तव्य है। भगवान तो अपने भक्तों के सब दुःख हरने को सदैव तैयार रहते हैं परन्तु शर्त यह है कि भक्त पूरी तरह से आत्म-समर्पण कर दे। मीरा को भगवान के दर्शन प्राप्त करने में क्यों सफलता प्राप्त हुई—यह मीरा की इन पंक्तियों से ही पता चल जायेगा—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।

जब प्रकृति (मन, बुद्धि इत्यादि) यह स्वीकार कर लेती है कि मेरा पति, मेरा स्वामी ईश्वर ही है और कोई नहीं तो अहंकार समाप्त हो जाता है और भगवान के साथ एकीकरण हो जाता है या दूसरे शब्दों में आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। अहंकार तब तक विद्यमान रहता है जब तक मन एवं बुद्धि अपने स्वामी ( सच्चिदानन्द स्वरूप परम पिता परमेश्वर ) की शरण में नहीं आ पाते। शरण में आने पर ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक मानव अपने बच्चों का पूर्ण रूप से लालन-पालन क्यों करता है? दूसरे शब्दों में हम अपने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई, स्वास्थ्य, आजीविकोपार्जन के साधनों को जुटाने आदि का भरसक प्रयास क्यों करते हैं? इसका उत्तर केवल यह है कि हमारे बच्चे केवल हमारी शरणागत होते हैं और हम यह भली प्रकार से समझते हैं कि हमारे भाई-बहिन एवं मित्र हमारे बच्चों के हितों की रक्षा उतनी नहीं करेंगे जितनी हम कर सकेंगे। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्द में भी भगवान ने यही कहा है—

**मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा**
**निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।**
**तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो**
**मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥**

अर्थात् जब मनुष्य सब कर्मों को त्यागकर मेरे में ही आत्मा को अर्पण कर मेरी ही आराधना की इच्छा से सब कुछ करता है, तब वह जीवन-मुक्त होकर मेरे ही सदृश ऐश्वर्य का अधिकारी हो जाता। जो देह श्री प्रभुजी को समर्पित कर दी जाती है उसके बारे में चिन्ता उसी प्रकार समाप्त हो जाती है जैसे बेचे गये पशु के बारे में।

भगवान पतञ्जलि जी ने भी समाधि-लाभ के उपायों में से सबसे सरल उपाय यह बताया है— 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा।' अर्थात् ईश्वर प्रणिधान होने पर ( पूर्ण समर्पण या शरण प्राप्ति ) समाधि-लाभ होता है। ईश्वर प्राप्ति जब भी किसी को हुई है, समाधि से ही हुई है। मन का इन्द्रियों के द्वारा जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है, मन उसी वस्तु का आकार धारण कर लेता है—तदाकार हो जाता है। भक्तों का मन भगवान में रत रहने के कारण भगवान का ही रूप हो जाता है। ज्ञान सम्पन्नता में वेदों से अधिक कौन है? अर्थात् कोई

नहीं है। उन वेदों को भी 'नेति-नेति' कहकर लौट जाना पड़ा। वही साधक ईश्वर प्राप्ति में सफल हो सकता है जो देह, धन, मन, ज्ञान आदि के अभिमान को छोड़कर अपने आप को भगवान के चरणों में अर्पित कर देता है। भक्त की केवल निर्मल भक्ति ही भगवान को रिझा सकती है।

यहां इस बात की जानकारी प्राप्त कर लेना हमारे लिए सर्वथा उचित होगा कि एक सिद्ध सद्गुरुदेव और ईश्वर में कोई भी अन्तर नहीं है। बल्कि गुरुगीता में तो सद्गुरुदेव भगवान के ध्यान को ही प्रमुख बताया है—

**ध्यानमूलं गुरोर्मूर्ति···।**

हम सब सिद्ध श्री सद्गुरुदेव प्रभुजी के बच्चे हैं और हमारे लिए श्री सद्गुरुदेव जी की कृपा प्राप्त कर लेना अति आवश्यकता है। योग की बड़ी-बड़ी क्रियायें श्री सद्गुरुदेव प्रभुजी की कृपा मात्र से सिद्ध हो जाती हैं—यह हम सबने अवश्य देखा होगा या अनुभव किया होगा। श्री सद्गुरुदेव भगवान के चरणों में आत्म-समर्पण का परिणाम है—बिना किसी विघ्न-बाधा के आत्म-साक्षात्कार।

अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि भगवान अपनी शरणागत आये भक्तों का कितना ध्यान रखते हैं। सबसे पहले तो हम अपने ही गुरु भाइयों एवं बहनों पर दृष्टि डालें हम सब भली प्रकार से जानते हैं कि श्री सद्गुरुदेव भगवान हमारे दुःख किस प्रकार क्षण भर में हर लेते हैं। हमारे आश्रम में रहने वाले हमारे ही आदरणीय ब्रह्मचारी भाइयों, जिन्होंने अपना पूरा जीवन श्री सद्गुरु भगवान श्री के चरणों में समर्पित कर दिया है, उनकी छोटी से छोटी आवश्यकता का श्री सद्गुरुदेव जी पूरा-पूरा ख्याल रखते हैं। भगवान श्रीकृष्ण जी अपनी शरण में आये हुए भक्तों का कितना ख्याल करते हैं, यह इस श्लोक से स्पष्ट हो जायेगा—

**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां**
**ये जनाः पर्युपासते ।**
**तेषां नित्याभियुक्तानां**
**योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥**

अर्थात् जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं उनको योगक्षेम मैं स्वयं दे देता हूं। योगक्षेम का अर्थ है—भगवान की प्राप्ति और दूसरे साधनों की उपलब्ध करना एवं उनकी रक्षा करना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि श्री प्रभुजी अपने भक्तों को लौकिक एवं पारलौकिक सफलता स्वयं उपलब्ध कराते हैं और उनकी रक्षा करते हैं। सन्त मलूकदास जी का नाम तो सबने सुन रखा होगा। सन्त मलूकदास जी भगवत् शरणागत से उत्पन्न हुई अपनी स्थिति के बारे में लिखते हैं—

माला जपूँ ना कर जपूँ, जिह्वा नहूँ ना राम।
मेरा सुमरन हरि करे, मैं पायो विश्राम ॥

मलूकदास जी कहते हैं कि मेरी स्थिति इस प्रकार की हो गई है कि न तो मैं माला जपता हूँ, न हाथों से गिन-गिन कर भगवान का जप करता हूँ और न ही जीभ से राम का नाम जपता हूँ। मेरा तो स्मरण अब मेरे प्रभु करते हैं। अर्थात् मेरी देह इत्यादि का पूरी तरह से प्रभु ध्यान रखते हैं। मैंने विश्राम पा लिया है अर्थात् 'मैं' अब प्रभु की वस्तु बन गया हूँ, उनकी शरण में आ गया हूँ। इसको हम इस प्रकार समझ लें—जब हम अपनी कोई वस्तु किसी दूसरे को दे देते हैं तो वह वस्तु दूसरे की हो जाती है। इसी प्रकार जब हम अपनी देह, बुद्धि और मन श्री प्रभुजी के चरणों में अर्पण कर देते हैं तो ये सब प्रभुजी के हो जाते हैं और अहंकार सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

महाकवि निराला ने 'राम की शक्ति-पूजा' में बहुत ही अच्छी तरह से यह बताया है कि भगवान राम अपनी शरण में आये व्यक्तियों का कितना ख्याल रखते हैं। भगवान राम रावण-वध का प्रयास करते हैं लेकिन रावण के सिर कट कर गिर जाते हैं और यथा-स्थान फिर लग जाते हैं और रावण मरता नहीं है, क्योंकि शक्ति रावण का साथ देती है। इस-लिए भगवान राम ने शक्ति-पूजन करने की सोची। भगवान राम ने यज्ञ प्रारम्भ किया और प्रत्येक मन्त्र के पश्चात् एक कमल का फूल शक्ति जी को अर्पित किया। जब वह पूजा समाप्ति पर थी और भगवान राम को आखिरी कमल का फूल अर्पण करना था तो देखते हैं कि टोकरी में फूल नहीं है। अब वे उठ नहीं सकते, क्योंकि उठते हैं तो अनुष्ठान भंग हो जाता है। भगवान समझ गये कि यह राक्षसों की शरारत है और यह भी उनके मन में आया कि अब शक्ति प्रसन्न नहीं होगी और रावण मरेगा नहीं। उस समय उनके मन में विचार उठते हैं—सीता वापिस न मिले तो कोई बात नहीं, मेरा भाई लक्ष्मण जीवित नहीं होगा तो यह भी सह लेंगे, मेरा वचन टूट जायेगा यह अपमान भी सहन कर लेंगे, लेकिन विभीषण जो मेरी शरण में आया था उसका क्या होगा ? भगवान अपनी शरण में आये भक्तों का कितना ख्याल रखते हैं। यह इस घटना से बिलकुल स्पष्ट हो गया होगा। खैर आगे कथा प्रसंग इस प्रकार है कि भगवान राम को याद आया कि माँ कौशल्या उन्हें कमल-नयन कहती थीं तो उन्होंने अपने नयन को अर्पण करने की सोची। ज्योंही भगवान राम ने तलवार उठाई त्योंही शक्ति प्रकट हो और कहने लगी—मैं तुम्हारे से प्रसन्न हूँ, और अब मैं तुम्हारा साथ दूँगी।' खैर यह तो प्रसंग वश कहना पड़ा परन्तु यह हमारे मूल विषयों से बाहर की बात है। इसलिए इसे यहीं समाप्त करना उचित होगा। एक और बात

अगर हम यहां भली-भांति जान लें तो अच्छा होगा और वह यह है कि भगवान की शरण में आने के पश्चात् भगवान की माया भी तंग नहीं करती। भगवान की माया वैसे तो सभी अचर और चर जीवों को अपने वश में रखती है लेकिन भगवान से बहुत डरती है। यह गोस्वामी तुलसीदास जी की इस चौपाई से स्पष्ट हो जाता है—

जीव चराचर बस कै राखे।
सो माया प्रभु सों भय भाखे॥

अब हम यह भली प्रकार से समझ गये हैं कि भगवत् प्राप्ति का सरलतम् उपाय है कि हम भगवान की शरण ले लें। प्रश्न यह उठता है कि भगवान की शरण किस प्रकार प्राप्त हो। क्या ऐसा भी कोई उपाय है जिससे हमें भगवान अपनी शरण में ले लें। इस सम्बन्ध में मुझे एक बहुत ही सुन्दर प्रसंग याद आता है। बात है सन् १९८१ की। सहारनपुर में मनाये गये श्री सद्गुरुदेव भगवान जी के जन्मोत्सव का अवसर था। एक सज्जन ने श्री सद्गुरुदेव भगवान जी से 'क्रिया-योग' के बारे में प्रश्न किया। श्री सद्गुरुदेव भगवान जी ने भगवान पतञ्जलि का यह सूत्र बताया—

**तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि-क्रियायोगः।**

श्री प्रभुजी ने बताया कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रियायोग कहते हैं। तप का अर्थ है गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास के जोड़ों को सहना। स्वाध्याय का अर्थ है शास्त्र आदि का अध्ययन, ओंकार नाम का जप, गुरु-मन्त्र का जप। फिर श्री सद्गुरुदेव भगवान जी ने बताया कि अगर साधक तप और स्वाध्याय करेगा तो ईश्वर प्रणिधान स्वतः ही हो जायेगा। निष्कर्ष यह निकला कि अगर हम अल्पहारी रहकर अपने गुरु-मन्त्र का नित्य तीन-चार घण्टे जप करते हैं तो ईश्वर प्रणिधान स्वतः ही हो जायेगा और हम श्री प्रभुजी की शरण प्राप्त करने में सफल हो जायेंगे। ईश्वर प्रणिधान से समाधि प्राप्त होगी और समाधि से ईश्वर दर्शन लाभ होगा। इसलिए हम सबको तप और स्वाध्याय द्वारा ईश्वर-शरण प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। ✿ ✿

## 卐 जीओ और जीने दो 卐

सुखी रहें सब, सब सन्तत नीरोग रहें
विश्व में कहीं न कोई दीनता का स्वर हो।

सब ओर प्रेम का उमड़ पड़े पारावार,
इष्ट-मित्र-सुहृद जनों का परिकर हो॥

मन में किसी को दुःख देने की न कामना हो,
अपने ही स्वत्व पर तोष-घरबर हो।

देव! इस दुनिया में ऐसा प्यार भर दे कि,
'जीओ और जीने दो' की भावना अमर हो॥

—श्री सुधीराम लवानिया

# ☆ योगासनों की परम उपादेयता

आजकल भारतवर्ष में व अन्यान्य देशों में योग-प्रचार धूम धाम से बढ़ता जा रहा है। किन्तु प्रायः यह देखने में आता है कि योगासनों का अभ्यास कराने वाले स्वयं भी उनके जानकार नहीं हैं। योगासन किस क्रमसे कराने चाहिए ? इस विधि को पूर्ण रूप से नहीं कराना जानते। भगवान् सदाशिव ने अपने ग्रन्थों में ८४ लाख योनियों का वर्णन किया है और ८४ लाख योनियों में विचरने वाले जितने जीव हैं, उन सभी के आसन, शयन आदि कार्य होते रहते हैं। आसन शब्द का शब्दार्थ 'आस्यते अनेन इति आसनम्' अर्थात् जिस विधि से बैठा जाय, उस विधि का नाम ही आसन है। ८४ लाख योनियों के अन्दर जन्म लेने वाले जीव 'येनकेन प्रकारेण आसन-शयन एवं भ्रमणादि करते हैं। इसलिए उनके बैठने की जो क्रिया है वह उनका आसन है। भगवान् सदाशिव ने जितनी योनियां हैं, उतने ही आसनों का अपने मुखारविन्द से वर्णन किया है, किन्तु वह सर्वशक्तिमान सदाशिव घट-घटवासी अन्तर्यामी प्राणीमात्र की गति को समझने वाले अवश्य ही सब कुछ कर सकते हैं। वे कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं, की तातक वाले हैं। अतः ८४ लाख योनियों के अन्दर जहां-जहां भी जीवों ने जन्म लिया है, उन सबकी आसन-शयन विधि को वह परमेश्वर पहले से ही जानते थे। इसलिये उनका इस प्रकार से वर्णन करना कोई असम्भव बात नहीं थी, किन्तु वह सब भगवान् शिव के कहे हुए चौरासी लाख आसन आजकल ग्रन्थों में पूर्ण रूपसे उपलब्ध नहीं हैं और उन सभी आसनों का वर्णन करना सर्व साधारण के लिये सर्वथा असम्भव है। इसलिये आजकल के योग-प्रचारकों ने और घिरण्ड आदि महर्षियों ने जिन आसनों का वर्णन किया है, वे अधिक से अधिक चौरासी या प्रयास करने पर सौ या डेढ़ सौ तक मिल जाते हैं। जो योगाश्रमों की व्यायाम-शालाओं में योगोपदेशक लोग कराते हैं। किन्तु उन सब में भी चौरासी आसन ही इस प्रकार के हैं जो सर्व साधारण के लिये विशेष लाभप्रद हैं। भगवान पतंजलिदेव ने आसन का लक्षण लिखते हुए योग दर्शन में, 'स्थिर सुखमासनम्' कह करके आसन की परिभाषा की है। इन शब्दों का अर्थ है कि जिसके करने से स्थायी सुख की प्राप्ति हो, बैठने की इस क्रियाको आसन कहा है। इस सूत्र का भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव ने कुछ आसनों के नाम भी लिखे हैं—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तीक आसन, पर्य्यंक आसन आदि नाम लिखे हैं।

स्थिर सुखमासनम् कहने से मनुष्य का जिस भी उपाय से स्थिर सुख हो, उसी क्रिया को आसन कहा जा सकता है, किन्तु भगवान व्यासदेव ने उनका स्पष्टीकरण कर दिया, क्योंकि उन्होंने खास-खास आसनों के नाम अंकित किये। दूसरे, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'आस्यते अनेन इति आसनम्' अर्थात् बैठने की क्रिया का नाम ही आसन हमारे ग्रन्थों में मिलता है।

## आसन-सिद्धि का प्रयत्न

आसन करने का क्या फल है ? हर एक पशु-पक्षी की बैठने की विधि से हम बैठना सीखें और वैसा करने से हम किस परिणाम को पहुँचेंगे, ये सब आगे बतलाने का प्रयत्न किया जायेगा किन्तु परमार्थ जिज्ञासुओं के लिये एक बात का समझा देना बहुत उत्तम रहेगा कि किसी भी आसन के अभ्यास से हम स्थिर सुख लाभ तभी कर सकते हैं, जब वह क्रिया हमें पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाय। स्थिर सुख का अर्थ है—कायम रहने वाली शान्ति। वह उस हालत में उपलब्ध नहीं हो सकती कि हम एक क्षण में अपने पैरों को बदलते रहें, बदलते रहें, ऐसा करने पर तो मन की शांति की अपेक्षा अशांति हो रहेगी, क्योंकि वह क्षण-क्षण दुःख का अनुभव करता रहेगा। इस लिये स्थिर सुख लाभ तो हमें उसी हालत में हो सकता है, जबकि हम जिस आसन से बैठें उसी की दुःखानुभूति न हो प्रत्युत यह अनुभव होता रहे कि हम बहुत हल्के हैं और एक आनन्द में बैठे हैं। हमें अपना शरीर रुई की मानिन्द हल्का मालूम पड़ने लगे तो समझ लेना चाहिए कि हमारे आसन का यह अभ्यास आसन-सिद्धि की ओर जा रहा है। परमार्थ जिज्ञासु साधु लोग जंगलों में एक-एक आसन से कई-कई घण्टे बैठने के प्रयत्न में लगे रहते हैं, किन्तु इस प्रकार का अभ्यास करते हुए उनको वर्षों व्यतीत हो जाते हैं, फिर भी वे लोग आसन-सिद्ध नहीं कर पाते। भगवन पतञ्जलिदेव ने आसन-सिद्धि का एक उपाय लिखा है वह बहुत ही उत्कृष्ट है और तथ्य से कहा जाय तो उसी का अवलम्बन लेने से मनुष्य पूर्णरूपेण आसन-सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। जो शास्त्रोक्त उस उपाय का अवलम्ब नहीं लेते, उनका प्रयत्न 'अकरणात्करणम् श्रेयः' के नियमानुसार यत् किंचित ठीक ही है, किन्तु आसन-सिद्धि और स्थिर सुख को चाहने वाले व्यक्तियों के लिए भगवान पतञ्जलिदेव के कहे हुये निम्नांकित उपाय का अवलम्ब लेना परमावश्यक है।

## प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम्

अर्थात् आसन-सिद्धि प्राप्त करने के लिए एक ऐसे उपाय की आवश्यकता है, जिससे प्रयत्न शैथिल्य होकर अनन्त समापत्ति हो जाय। जब तक मनुष्य का मन पूर्णरूपेण

एकाग्र नहीं हो पाता, तब तक वह आसन-सिद्धि के लिये प्रयत्न करता ही रहता है और अनन्त समापत्ति उससे हजारों कोस दूर रहा करती है। अनन्त समापत्ति का अर्थ है अखंड मण्डलाकार व्यापक परमात्मा के स्वरूप में अपने आपको विलीन कर देना। कहीं-कहीं पर योगाचार्य लोग शेषनाग के ध्यान को भी अनन्त समापत्ति कहते हैं, किन्तु कुछ भी हो उस अनन्त परमात्मा में मन के विलय हो जाने पर योगी को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसका शरीर किस स्थिति में पड़ा है या बैठा है। आज घोर कलयुग के समय में भी इस प्रकार के दृश्य देखने में आते हैं कि जहां पर गुरुदेव के पूर्ण अनुग्रह से शक्तिपात हो जाने पर जिन साधकों के मन एकाग्र होते हैं और वे लोग बाह्य बोध शून्य हो जाते हैं, उनको दो दिन के अन्दर ही कई-कई घण्टे लगातार एक-एक आसन से बैठे देखा गया है। इस प्रकार की घटनायें जहां जहां पर शक्तिपात की दीक्षायें दी जाती है, वहां पर स्वाभाविक घटित होती रहा करती हैं।

## एक दिव्य घटना

एक स्थान पर किसी योगिराज ने अपने शिष्य पर शक्तिपात किया और योग दीक्षा दी। वह लड़का एक आसन से बैठ गया। शक्तिपात के फलस्वरूप उसके मन की इतनी ऊँची एकाग्रता हुई कि उसका मन उस सर्व शक्तिमान अनन्त में विलय हो गया और वह पहले दिन ही जड़वत् पत्थर की मूर्ति की तरह से कई घंटे लगातार बैठा रहा और कई दिन के निरन्तर अभ्यास हो जाने के बाद उस साधक की इस प्रकार की स्थिति आई कि वह अनन्त समापत्ति से लगातार २४-२४ घंटे एक ही आसन से बैठा रहता था और गुरुदेव स्वयं उसको चेतना देकर यह बोध कराया करते थे कि तुम्हें इतना लम्बा समय हो गया है, अब तुम उठ जाओ और बाहर जाकर मल-मूत्रादि का त्यागन करो। इस प्रकार की दृढ़ स्थिति अनन्त समापत्ति का ही विशद परिणाम था। आसन-सिद्धि का यही सरल एवं उच्चतम उपाय है। जो जिज्ञासु इस कृपा को लाभ कर लेते हैं उनके आसन स्वतः ही सिद्ध हो जाया करते है।

## आसन-सिद्धि का परिणाम

ततो द्वन्द्वानभिघातः। शीतोष्णादि-भिर्द्वन्द्वैरासन जयान्नाभिभूयते।

अर्थात् आसन-सिद्धि का सबसे बड़ा फल द्वन्द्वानभिघात अर्थात् द्वन्द्वोंसे न सताया जाना। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के जोड़े को द्वन्द्व कहते है। जिस व्यक्ति की आसन सिद्ध नहीं होता, उसकी सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि की तृष्णा सताती रहा करती है और द्वन्द्वों से सताया हुआ वह व्यक्ति कभी भी साधना की पूर्णता को नहीं पा सकता। इसलिए आसन-सिद्धि का द्वन्द्वानभिघात सबसे ऊँचा परिणाम है। अतः जो लोग परमार्थ जिज्ञासु हैं उनको शास्त्रोक्त विधिसे आसन जय प्राप्तिकरने केलिए अनन्त समापत्ति करनी ही चाहिए। यह आसनों के करने का परमार्थिक लाभ हैं। (क्रमशः)

# सिद्धयोग का नया पन्द्रहवां वर्ष

आनन्दकन्द योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी की पावन जयन्ती के अवसर पर जो सवांई आश्रम के प्रांगण में सदा की भांति इस वर्ष भी त्रिदिवसीय समारोह के रूप में मनाई जा रही है, 'सिद्धयोग' अपने जीवन के १४ वर्ष पूरे करके १५ वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। जैसा कि पाठकों को सुविदित है। 'सिद्धयोग' केवल योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रचारक एवं प्रसारक मासिक पत्र है।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में 'सिद्धयोग' वर्ष प्रति वर्ष अप्रत्याशित रूप से प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ने वाली मंहगाई के आघातों से अप्रभावित नहीं रहा है। प्रतिवर्ष वह अपने लागत मूल्य की अपेक्षा लगभग १० हजार रुपया वार्षिक घाटा वहन करता आ रहा है। इतना घाटा भी उसे तब होता है जबकि सम्पादन और व्यवस्थापन आदि की सब सेवायें तथा सुलेखकों एवं सुकवियों का सहयोग उसे श्री सद्गुरुदेव जी की कृपा से निःशुल्क प्राप्त हैं। केवल पैंकिग पोस्टेज, कागज, ब्लाक, छपाई आदि के आवश्यक व्यय के आंकड़ों के आधार पर ही जो वार्षिक मूल्य निर्धारित किया जाता है उसके अनुपात में मंहगाई कई प्रतिशत आगे चली जाती है। अतः जो मूल्य निर्धारित किया जाता है वह लागत मूल्य से कहीं पीछे रह जाता है।

वैसे भी 'सिद्धयोग' का मुख्य ध्येय योग विद्या को सर्व साधारण के लिए सुलभ बनाना है अतः पत्र के एक मात्र संरक्षक स्वत्वाधिकारी अनन्त श्री सद्गुरुदेवजी महाराज का सदैव यह आदेश रहता है कि 'सिद्धयोग' मूल्य लागत मात्र ही रक्खा जाय। उनकी इस आज्ञा का सदैव पालन होता रहा है। इस वर्ष भी सिद्धयोग का वार्षिक मूल्य गतवर्ष जैसा ही रक्खा गया है। 'सिद्धयोग' के प्रकाशन में प्रति वर्ष जो घाटा होता है उसे स्वयं श्री सद्गुरुदेव जी महाराज ही वहन करते आये है। आगे इस घाटे को निर्मूल करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इसका वार्षिक मूल्य वर्तमान में बढ़े हुए कागज, स्याही, मुद्रण, पोस्टेज-पैंकिग आदि मूल्यों के अनुसार कुछ और बढ़ाया जाय साथ ही इसकी ग्राहक संख्या का परिवर्धन भी सभी गुरु भाई-बहन अपनी शक्ति और सामर्थ्य से और अधिक बढ़ाने की चेष्टा करें। उनकी यह चेष्टा उनके अपने योगक्षेत्र को व्यापक बनाने की ही सद्-चेष्टा होगी।

अन्त में 'सिद्धयोग' के इस विशेषाङ्क में जिन विद्वान लेखकों ने अपने विचारपूर्ण लेख और रचनायें प्रेषित करके अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है उनके प्रति संयुक्त सम्पादक के रूप में, मैं अपना विनम्र आभार प्रकट करता हूं। विशेषाङ्क की सामग्री की उपयोगिता और उपादेयता का श्रेय मुख्य रूप में श्री सद्गुरुदेवजी महाराज और उनकी अपनी लेखक मण्डली को ही है। कुछ लेख और रचनायें इच्छा रखते हुए भी हम इस अङ्क में नहीं दे पाये हैं आगामी अङ्कों में उन्हें क्रमशः प्रकाशित करते रहेंगे।

अन्त में उन अभावों और भूलों के लिए जो मुद्रण व प्रकाशन में रह गई हों अज्ञान होने के कारण मैं सादर क्षमा प्रार्थी हूं।

विनम्र :—

'दिव्य'

संयुक्त सम्पादक

श्री 'सिद्धगुफा' योग प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा प्रकाशित

# उपयोगी सत्साहित्य

| | पुस्तक | मूल्य |
|---|---|---|
| १. | योगासन चित्रपट | ३-०० |
| २. | श्री योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की स्वहस्त-लिखित जीवन कथायें व सदुपदेश | ५-०० |
| ३. | योगासन [ सचित्र ] | ५-५० |
| ४. | श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी | २-०० |
| ५. | योगिराज श्री मुलखराज जी | २-०० |
| ६. | आठ योगी | २-०० |
| ७. | समाधिस्था योगिनियाँ | २-०० |
| ८. | सवांई के चमत्कारिक चरित्र | ३-०० |
| ९. | मन की एकाग्रता के साधन | २-०० |
| १०. | भोग, रोग और योग | २-०० |
| ११. | जीवन-तत्त्व-साधन | १-०० |
| १२. | यम-नियम | १-०० |
| १३. | योग क्या ? | -५० |
| १४. | योगेश्वर चरित्रमाला [ भजन ] | १-०० |
| १५. | श्री महाप्रभुजी का गीत काव्य [ कविता ] | १-०० |
| १६. | श्री सद्गुरु संकीर्तन भजनमाला | २-०० |
| १७. | सुधा-संगीत | १-०० |
| १८. | इन्दुशर्मा के आठ भजन | -५० |
| १९. | श्री सद्गुरु स्तवन [ गीत-काव्य ] | १-०० |
| २०. | योगामृत-भजनावली | २-५० |
| २१. | जीवन तत्त्व साधन—व्याख्याकार-श्री गिरीशदेव वर्मा | ६-५० |
| २२. | सर्व समर्थ गुरुदेव | ३-०० |
| २३. | गुरु-गीता | ३-०० |
| २४. | Practices For Developing THE LIFE FORCE ( Jiwan Tattwa Sadhan ) | २-०० |
| २५. | नेत्र ज्योति प्रकाशिनी नेति | ३-०० |
| २६. | योग-क्यों और कैसे ? | ३-०० |
| २७. | योग-सिद्धान्त-प्रथम खण्ड | २५-०० |

नोट—उपर्युक्त पुस्तकें मंगाने पर मूल्य के अतिरिक्त डाक व्यय मँगाने वाले के जिम्मे होगा। इसके अतिरिक्त उक्त संस्थान से प्रकाशित योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक 'सिद्धयोग' मासिक के ग्राहक बनिये और लाभ उठाइये। नया वर्ष अप्रैल से प्रारम्भ होकर मार्च में समाप्त होता है। मूल्य १८ रु० वार्षिक। मिलने का पता:—

व्यवस्थापक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई (आगरा)

## ❀ त्याग ही जीवन का जीवन है ❀

त्याग ही जीवन का जीवन है। हम प्रतिक्षण अनजान में त्याग करते हैं। जीवन-धारण के लिए श्वास छोड़ते हैं, आहारादि के जरिये हृदय में ज्योंही रक्त-संचय हुआ कि वैसे ही साथ-साथ समस्त शिराओं में संचारित किया जा रहा है—अन्यथा मृत्यु निश्चित है। हम जो कुछ भी दूसरों से या प्रकृति से पाते हैं, और जो कुछ भी उपार्जन करते हैं—विद्या, बुद्धि, ज्ञान, धन, धर्म—वे दूसरों के उपकार के लिए हैं, दूसरों का अभाव मिटाने के लिए हैं। उन्हें यदि बिना हिचकिचाहट के हम दान या वितरण करने में विमुख हों तो वे समय पाकर नष्ट हो जाते हैं, किसी के भी कुछ काम में नहीं आते। मन्द, वितरण है विनिमय नहीं। दान या त्याग स्वेच्छापूर्वक और अभिसन्धि-रहित होना उचित है, तभी वे अभय फलदायी होते हैं। श्री स्वामी जी ने कहा—"बस देते ही चलो, कुछ प्रत्याशा मत रखो। जो प्रत्याशा रखता है उसका सिन्धु बिन्दु हो जाता है।"

बाह्य प्रकृति में त्याग की क्रिया सर्वत्र ही देखी जाती है। सूर्य, चन्द्र, तारे, प्रकाश और उत्ताप दे रहे हैं। झाड़-पौधे फल प्रसव करते, छाया-दान करते और फूल, मधु तथा सौरभ वितरण करते हैं, नदी तृष्णा निवारण करती और पृथ्वी प्राणियों के लिए खाद्य तथा भोग-सामग्री उत्पादन करती है। सब ही नीरवतापूर्वक निज-निज स्वभावानुसार जीवों के उपकार के लिए अपने आपको वितरित कर दे रहे हैं। एक आदमी ही केवल, मरने के समय भी 'मेरा' 'मेरा' करते मर रहा है।

—स्वामी विरजानन्द

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कामयोग प्रिंटिंग प्रेस, वमई कलां, नाजगंज, आगरा फोन ६३१६८